अग्निशिखा एवम् पुरोधा

अक्तूबर २०२४

आराधना

अग्निशिखा एवम् पुरोधा अक्तूबर २०२४ वर्ष २, अंक ३, पूर्णांक १५

विषय-सूची

आराधना

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
भक्ति	५
पूजा	१३

पुरोधा

दैनन्दिनी		३०
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन': भगवद्गीता के विषय में	नवजातजी	३४
मुरली (कविता)	स्व. विद्यावती कोकिल	३७
शाश्वत ज्योति (८)	चित्रा सेन (अनु. वीणा)	३८
माँ का प्रेम	श्रीअरविन्द	४०
सुनहरी लड़ी	नलिनीकान्त गुप्त	४०
श्रीअरविन्द का एक पत्र		४१
प्रसन्न रहो	स्व. रवीन्द्रजी	४२
वह जो साथ है (कविता)	डॉ. रामशंकर चञ्चल	४४
भक्तिपूर्वक झुक कर...	वन्दना	४५

पाठकों को हम यह याद दिला दें कि वैसे पुराने कलेवर की 'अग्निशिखा' का यह हमारा ५५वाँ वर्ष चल रहा है।

सन्देश

जब तुम इस तरह दुःखी होते हो, तो इसका अर्थ यह है कि तुम्हें कोई प्रगति करनी है। तुम कह सकते हो कि हमें हमेशा प्रगति करनी चाहिये, यह सच है। लेकिन कभी-कभी हमारी प्रकृति आवश्यक प्रगति के लिए अपनी स्वीकृति देती है और तब सब कुछ सरलता से, यहाँ तक कि सुख से होता है। इसके विपरीत, कभी-कभी वह भाग जिसे प्रगति करनी है, हिलने से इन्कार कर देता है और जड़ता, अज्ञान, लगाव या कामना के कारण अपनी पुरानी आदतों के साथ चिपका रहता है। तब, पूर्ण बनाने वाली शक्ति के दबाव के कारण वह संघर्ष दुःख या विद्रोह या कभी-कभी दोनों का रूप लेने लगता है। एकमात्र उपचार है—चुपचाप रहना, अपने अन्दर सच्चाई के साथ यह जानने के लिए देखना कि गड़बड़ कहाँ है और साहस के साथ उसे ठीक करने के लिए काम में जुट जाना।

अगर तुम्हारा प्रयास सच्चा-निष्कपट हो तो भागवत परम चेतना हमेशा तुम्हें सहायता देने के लिए तैयार होगी; तुम्हारा प्रयास जितना अधिक सच्चा होगा, भागवत परम चेतना उतनी ही अधिक सहायता और सहयोग देगी।

श्रीमाँ

सम्पादकीय : जो कुछ हमें अपने से उच्चतर, विशालतर दीखता है उसी की आराधना करना मानव-हृदय की सामान्य गति और प्रक्रिया है। श्रीमाँ ने कहा भी है—आराधना करो, और जिसकी आराधना करो उस-जैसा बनने का प्रयास करो—अगर यह यथार्थ और उचित चेतना के साथ किया जाये तो इसमें महान् शक्ति होती है।

इस अंक में आराधना की भावना को उजागर करने का हमारा छोटा-सा प्रयास प्रस्तुत है।

जहाँ तक मिलन की बात है, स्थायी मिलन आन्तरिक होता है और वही हमेशा के लिए बना रहना है, बाहरी मिलन या सम्पर्क सामान्यतः टिकाऊ नहीं होता। कुछ ऐसे हैं जो बहुधा या प्रायः हमेशा ही, जब-जब वे आराधना करते हैं, इस सम्पर्क को पा लेते हैं, उनके लिए देवी-देवता जीवन्त हो सकते हैं, चाहे वे चित्र में हों या ऐसी किसी भी वस्तु में जिसकी वे पूजा करते हैं, वे देवता उस वस्तु के द्वारा इधर-उधर चल-फिर सकते हैं, क्रिया कर सकते हैं; कुछ और भक्तगण अपने देवता को हमेशा उपस्थित अनुभव कर सकते हैं, चाहे वे बाह्य रूप में हों, सूक्ष्म-भौतिक रूप में हों, वे यह महसूस करते हैं कि उनके इष्टदेव उन्हीं के साथ बने रहते हैं; वे जहाँ रहें, जिस किसी कमरे में जायें, उन्हीं के साथ रहते हैं; लेकिन कभी-कभी यह भावना केवल कुछ समय के लिए होती है। या वे यह अनुभव कर सकते हैं कि उन देवता की उपस्थिति संग-संग है, बहुधा उन्हें शारीरिक रूप में देखते हैं (भौतिक रूप नहीं, सिवाय कभी-कभी), उनके स्पर्श का अनुभव कर सकते हैं, उन्हें गले लगा सकते हैं, निरन्तर उनसे बातें कर सकते हैं—यह भी एक तरह का मिलन है। उच्चतम मिलन वह है जिसमें व्यक्ति ईश्वर के बारे में निरन्तर सचेत रहता है, वह अनुभव करता है कि वे स्थायी रूप से उसके साथ जुड़े हैं, न केवल उसके साथ बल्कि जगत् की प्रत्येक वस्तु के साथ संलग्न हैं, वे समस्त जगत् को अपने अन्दर समोये रहते हैं, अस्तित्व के साथ एक हो जाते हैं, फिर भी चरम रूप में जगत् के परे भी रहते हैं—लेकिन, साथ ही, जगत् में भी व्यक्ति 'उन्हें' छोड़ कर और किसी को न देखता है, न सुनता है, न ही अनुभव करता है, अतः, उसकी सभी इन्द्रियों का 'उन्हें' छोड़ कर और किसी से वास्ता नहीं होता... मिलन के बहुतेरे पथ हैं और प्रत्येक अपने-आपमें वन्दनीय है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३६३-६४ **श्रीअरविन्द**

भक्ति

हृदय के भावों को भगवान् की ओर मोड़ना है

हृदय को सुखा देना इस योग का अंग नहीं है; बल्कि हृदय के भावों को भगवान् की ओर मोड़ना होगा। ऐसे छोटे-छोटे काल आ सकते हैं जिनमें हृदय शान्त रहे, साधारण अनुभवों से विमुख हो और ऊपर से भावप्रवाह के आने की प्रतीक्षा करे; परन्तु ऐसी स्थितियाँ सूखेपन की स्थितियाँ नहीं बल्कि नीरवता और शान्ति की स्थितियाँ हैं। इस योग में जब तक चेतना ऊपर नहीं उठती तब तक वास्तव में हृदय को एकाग्रता का प्रमुख केन्द्र होना चाहिये।

*

भावावेग योग के लिए एक अच्छी वस्तु है; परन्तु भावावेग से जन्मी कामना सहज ही विक्षोभ का एक कारण तथा एक बाधा बन जाती है।

अपने भावावेगों को भगवान् की ओर मोड़ दो, उनकी शुद्धि के लिए अभीप्सा करो; तब वे योग के मार्ग के सहायक बन जायेंगे और फिर कभी दुःख-कष्ट का कारण नहीं होंगे।

भावावेग को मार डालना नहीं, बल्कि उसे भगवान् की ओर मोड़ देना ही योग का उचित मार्ग है।

परन्तु उसे शुद्ध-पवित्र, आध्यात्मिक शान्ति और उल्लास पर प्रतिष्ठित तथा आनन्द में परिवर्तित हो जाने के योग्य बन जाना होगा। मन और प्राण के भागों में समता और स्थिरता तथा हृदय में तीव्र चैत्य-भाव पूर्णतया साथ-साथ रह सकते हैं।

अपनी अभीप्सा के द्वारा हृदय में चैत्य अग्नि को जगाओ जो धीर-स्थिर रूप से भगवान् की ओर जलती रहती है—यही भावावेगमयी प्रकृति को मुक्त और चरितार्थ करने का एकमात्र पथ है।

*

योग में हृद्गत भाव आवश्यक होता है और सच पूछा जाये तो केवल अतिरञ्जित भावुकता ही छोटी-छोटी बातों के कारण, जिन्हें हमें अतिक्रम करना है, निराशा के गर्त में डाल देती है। इस योग का सच्चा आधार ही है भक्ति, और यदि कोई अपनी भावनात्मक सत्ता को मार डाले तो फिर

भक्ति हो ही नहीं सकती। अतः, भावनात्मक सत्ता को योग से बहिष्कृत करने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती।

*

वास्तव में केवल साधारण प्राणिक भावावेग ही शक्ति का अपव्यय करते और एकाग्रता तथा शान्ति को भंग करते हैं और उन्हें ही निरुत्साहित करने की आवश्यकता है। भावावेग अपने-आपमें कोई बुरी वस्तु नहीं है; वह तो प्रकृति का एक आवश्यक अंग हैं और चैत्य भावावेग तो साधना का एक अत्यन्त बलशाली सहायक है। जो चैत्य भावावेग भगवान् के प्रति प्रेम के अथवा आनन्द के आँसू ले आता है उसे कभी दबाना नहीं चाहिये। उसमें जब कोई प्राणिक वस्तु मिल जाती है तो केवल वही साधना में बाधा-विघ्न उपस्थित करती है।

भावुकता

प्रेम, शोक, विषाद, निराशा, भावोल्लास आदि आवेगों में इनके अपने लिए ही आसक्त होना और इनके प्रति एक प्रकार का मानसिक और प्राणिक अत्याग्रह रखना ही भावुकता है। वास्तव में गहरे भाव के अन्दर शान्ति, नियन्त्रण, पावन संयम और मर्यादा आदि होने चाहियें। हमें अपने भावों और अपनी संवेदनाओं का खिलौना नहीं, बल्कि हमेशा उनका नियन्ता होना चाहिये।

*

जब चेतना इन सब चीज़ों में लिप्त होती है और भावात्मक हर्षावेश में अथवा दुःख-कष्ट में लोटती-पोटती है तो उसे ही भावुकता कहते हैं। एक दूसरे प्रकार की भावुकता भी है जिसमें मन प्रेम, संवेदना आदि भावों के बोध में सुख अनुभव करता है और उनके साथ खेलता है, परन्तु वह कम तीव्र और अधिक छिछली भावुकता होती है।

भक्ति

भक्ति कोई अनुभूति नहीं है, यह हृदय और अन्तरात्मा की एक अवस्था है। यह अवस्था तब आती है जब चैत्य सत्ता जाग्रत् और प्रमुख होती है।

*

निस्सन्देह, भक्ति की तुम्हारी माँग उचित है, क्योंकि मेरे विचार से यह तुम्हारी प्रकृति की प्रमुख माँग है : इस मामले में, यह साधना का प्रबलतम प्रेरक बल और साधन है। इसी कारण मैंने कहा कि हृदय के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति को तुम्हारे पास आना चाहिये। मेरे और श्रीमाँ के लिए तुम्हारे अन्दर जो निष्ठा और निर्भरता की भावना है वह, जैसा कि तुम कहते हो, स्वयं भक्ति का सम्भवतः अंश न हो, लेकिन ये चीज़ें जहाँ हैं वहाँ सचमुच भक्ति अन्दर बहुत गहरे होती ही है। उसे तो बस पूरे बल के साथ सतही चेतना पर लाना है और मुझे लगता है कि जैसे ही बाहरी आवरण झड़ जायेंगे, भक्ति निश्चित रूप से उभर आयेगी। जो अन्दर है वह निश्चय ही ऊपर आने के लिए अपना रास्ता बनायेगा।

*

तुम योग के परम्परागत विचारों में विश्वास रखते हो—वैसे परम्परागत विचारों के अनुसार भी साधना का सरलतम मार्ग भक्ति, आत्मोत्सर्ग तथा समर्पण का ही मार्ग है। तुम्हारे रास्ते अब भी जो चीज़ आड़े आती है—जो कइयों के मन में आती है, वही तुम्हारे अन्दर पनप रही है और जो मन तथा प्राण की पुरानी उलझन है। हृदय कहता है, "मैं भक्ति चाहता हूँ", मन कहता है, "नहीं, नहीं, हम तर्क के रास्ते चलें", प्राण कहता है, "बकवास, मैं समर्पण नहीं कर सकता।" तुम्हें आवश्यकता है मन के द्वारा रचित पुराने संस्कारों को शान्त करने की और फिर अपने-आपको एक चीज़ पर एकाग्र कर लो या सबके अन्दर समन्वय लाओ। भक्ति को आधार-शक्ति बनाओ, तब ज्ञान, बल और भगवान् में हर्ष परिणाम-स्वरूप आ जायेंगे—यही है इस योग में प्रस्तावित सामञ्जस्य की प्राप्ति, लेकिन इन दोनों में से कोई भी तरीक़ा अपनाओ, शान्ति आसानी से प्राप्त हो जाती है।

*

भक्ति और प्रेम ऐसी चीज़ें हैं जिनका प्रवाह जितना ज़्यादा बढ़े, व्यक्ति के अन्दर बार-बार आये, और उसे जितना अधिक जगाये, उतने अधिक वे सत्ता के सभी भागों में उफन पड़ते और व्यक्ति को प्रभावित करते हैं।

*

तुम अहैतुकी भक्ति का अनुसरण करना चाहते हो, इसमें कोई बाधा नहीं है, और इससे अधिक अच्छी और कोई भक्ति नहीं। क्योंकि इस तरीक़े से

सब कुछ सम्भव होता है—उदाहरण के लिए, तब काव्य और संगीत मात्र काव्य और संगीत नहीं रहते, न ही मात्र भक्ति की अभिव्यक्ति ही होते हैं, बल्कि स्वयं प्रेम तथा भक्ति की अनुभूति लाने के माध्यम बन जाते हैं। तब स्वयं ध्यान मानसिक रचना का प्रयास नहीं रहता, बल्कि प्रेम, आराधना तथा पूजा का प्रवाह बन जाता है। अगर सच्चाई से अनुसरण किया जाये तो अहैतुकी भक्ति व्यक्ति को जहाँ तक कोई भी अन्य मार्ग पहुँचा सकता है उतनी दूर या उससे भी परे पहुँचा सकती है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३५०-५५

भक्ति तथा प्रेम

भक्ति का स्वभाव ही है आराधना, पूजा, उसके प्रति आत्मोत्सर्ग जो तुमसे अधिक महान् है—प्रेम का स्वभाव ही है, भगवान् के साथ घनिष्ठता और एकता की इच्छा रखना। दोनों का विशेष गुण है—आत्मोत्सर्ग; ये दोनों ही चीज़ें योग में ज़रूरी हैं और जब दोनों परस्पर एक दूसरे का सहारा बनती हैं तो अपनी पूरी शक्ति पाती हैं।

*

हम यह नहीं कह सकते कि भगवान् का नाम प्रेम है, प्रेम उनकी चेतना और उनकी सत्ता की शक्ति है। भक्ति और प्रेम समान चीज़ें नहीं हैं, लेकिन प्रेम भक्ति के तत्त्वों में से एक है। विभिन्न प्रकार की भक्ति होती हैं और जिसमें प्रेम का आधिक्य होता है वह प्रबलतम होती है और उसे उच्चतम, तीव्रतम और सबसे अधिक आह्लादक माना जाता है। साथ ही, स्वयं प्रेम में उसका वह रूप जिसमें आत्म-दान होता है, समर्पण, पूर्ण आराधना, प्रभु के साथ निस्स्वार्थ ऐक्य की ललक होती है, वही सच्ची भक्ति है, वही है प्रेम। "प्रेम को जीतना" या "विजेता से प्रेम करना"—इसका अर्थ है, उस सब पर प्रेम का छा जाना जो उसके साम्राज्य में बाधक बन कर खड़ा होता है, यानी, अज्ञान, मिथ्यात्व, स्वार्थ, अहंकार, कामना और वासना, बहिर्मुखी और आत्म-केन्द्रित इच्छाओं तथा ऐसी सभी चीज़ों पर वह तब तक छाया रहता है जब तक उन पर एकच्छत्र उसी का राज्य नहीं हो जाता और वह सर्वविजयी नहीं बन जाता, तब वह उन सब पर 'भागवत चेतना' के अन्य सभी उपहारों को भी उतार लाता है। प्रेम तथा

निस्स्वार्थ-भाव और आत्म-दान के द्वारा ही साधक 'प्रेम' को अपने ऊपर विजय पाने में सहायता दे सकता है।

*

मेरे ख़याल से प्रेमभक्ति होनी चाहिये—अर्थात्, ऐसी भक्ति जिसके आधार में प्रेम हो; आराधना, आत्म-समर्पण, श्रद्धा-भाव, आज्ञापालन इत्यादि से भरी भक्ति भी हो सकती है, लेकिन सम्भव है कि उसमें प्रेमभाव न हो।

*

निस्स्वार्थ-भाव, आत्म-दान, पूर्ण श्रद्धा और विश्वास, माँग और कामना का न होना, 'भागवत इच्छा' के प्रति समर्पण, भगवान् को निवेदित प्रेम—ये हैं सच्चे प्रेम और भक्ति के कुछ प्रमुख लक्षण।

भावनात्मक भक्ति

तुम्हारी यह धारणा ग़लत है कि मैं भक्ति के विरुद्ध हूँ या भावनात्मक भक्ति के विरुद्ध हूँ—ये दोनों बातें वास्तव में एक-सी हैं, क्योंकि भाव के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। बल्कि ठीक तथ्य यह है कि योगविषयक अपने लेखों में मैंने भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। किसी समय मैंने अगर ऐसा कुछ कहा भी है जिससे इस ग़लतफ़हमी का कारण समझ में आ सके तो वह तो उस अपवित्र भावुकता के विरुद्ध है जो, मेरे अनुभव के अनुसार, सन्तुलन का अभाव, विक्षुब्ध और सामञ्जस्यहीन भावाभिव्यक्ति या यहाँ तक कि विपरीत प्रतिक्रियाएँ तक उत्पन्न करती और अपनी पराकाष्ठा में विकार भी ले आती है। परन्तु पवित्रीकरण के लिए आग्रह करने का अर्थ यह नहीं कि मैं सच्चे संवेदन और भाव को भी निन्दनीय ठहराता हूँ, जैसे मन या संकल्प की पवित्रता के लिए आग्रह करने का अर्थ यह नहीं होता कि मैं विचार और संकल्प को निन्द्य मानता हूँ। बल्कि इसके विपरीत, भाव जितना अधिक गहरा होता है, भक्ति भी उतनी ही अधिक तीव्र होती है, सिद्धि और रूपान्तर की शक्ति भी उतनी ही महान् होती है। सच पूछा जाये तो अधिकांश समय भाव की तीव्रता से ही हृत्पुरुष जागता है और भगवान् की ओर ले जाने वाले आन्तरिक द्वार उद्घाटित होते हैं।

*

अगर व्यक्ति भावुक सत्ता की भक्ति को केवल इसलिए प्रोत्साहन न दे

कि निम्न प्राण अब तक उसके संयम में नहीं है और भिन्न तरीक़े से क्रिया करता है तब भक्ति बढ़ेगी कैसे और निम्न प्राण का परिवर्तन होगा कैसे? जब तक स्वभाव का पूर्णतः शुद्धीकरण और उसमें पूर्ण सामञ्जस्य न हो जाये, तब तक सत्ता में विरोध हमेशा होते रहेंगे, लेकिन यह एकदम से कोई कारण नहीं कि तुम अधिक सुन्दर क्रियाओं की अभिव्यक्ति को नीचे दबा दो—इसके विपरीत, इन्हीं सुन्दर गतियों को विकसित और वर्धित करना है।

*

भावनात्मक (भक्ति) चैत्य भक्ति की अपेक्षा अधिक बाह्य वस्तु है—यह बाहरी अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति रखती है। चैत्य भक्ति अन्तर्मुखी होती है और सम्पूर्ण आन्तरिक और बाह्य जीवन को नियन्त्रित करती है। भावनात्मक भक्ति तीव्र हो सकती है पर वह न तो अपने आधार में उतनी सुदृढ़ होती है और न उतनी पर्याप्त शक्तिशाली ही कि जीवन की दिशा को पूरी तरह से परिवर्तित कर दे।

प्राणिक भक्ति

सामान्यतः प्राणिक भक्ति कामनाओं और माँगों से भरपूर होती है—वह जो देती है उसके बदले में कुछ पाने की आशा रखती है; वह भगवान् को स्वयं भगवान् के लिए चाहने की जगह अपने हित के लिए ज़्यादा चाहती है। अगर उसे अभीष्ट वस्तु न मिले तो उसमें विद्रोह करने या कहीं और पलट जाने की सामर्थ्य होती है। बहुधा ईर्ष्या, ग़लतफ़हमी, अविश्वास, क्रोध इत्यादि उसके पीछे-पीछे चलते हैं—मानव प्रेम की सामान्य अपूर्णताएँ—और ये चीज़ें उसे भक्ति के पात्र के विरोध में ला खड़ा कर देती हैं। दूसरी ओर, अगर प्राणिक भक्ति पर चैत्य का शासन हो, ये दोष चले जाते हैं और तब प्राण प्रेम और भक्ति को उत्साह और उमंग से भर देता है जो प्रेम तथा भक्ति को क्रिया तथा जीवन में कर्म सम्पन्न करने के लिए महानतर प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। प्राण को हमेशा जीवन में आत्मा की आत्म-अभिव्यक्ति के लिए एक साधन होना चाहिये, और उसे अपने अहंकार या कामना या अपने ही आवेश के अनुसार नहीं चलना चाहिये।

*

प्राणिक भक्ति अहंकारमयी होती है, सामान्यतः वह भगवान् से बहुत-से

दावे और माँगें करती है और जब वे पूरी नहीं होतीं तो विद्रोह पर उतर आती है। मानसिक भक्ति में हृदय में प्रेम के बिना बस विचारों में पूजा-भाव होता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३५६-५८

विरह की भावना

विरह आत्मा की खोज में प्राण-स्तर पर होने वाली एक संक्रमणकालीन अनुभूति है—कोई कारण नहीं कि साधना की बिलकुल प्राथमिक अवस्था में यह अनुभूति होने की सम्भावना न हो। जो उपलब्धियाँ बिना किसी बेचैनी के, विशुद्ध आनन्द में होती हैं वे अधिक विकसित साधना का फल होती हैं।

*

विरह का विशुद्ध भाव चैत्य भाव होता है—पर उसमें यदि राजसिक या तामसिक गतियाँ (जैसे, अवसाद, विलाप, विद्रोह आदि) अन्दर आ जायें तो फिर वह तामसिक या राजसिक बन जाता है।

*

बिछोह की वेदना प्राण की वस्तु है, चैत्य पुरुष की नहीं; चैत्य पुरुष में कोई वेदना नहीं होती और इसलिए उसे व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। चैत्य पुरुष श्रद्धा, हर्ष और विश्वास के साथ सर्वदा भगवान् की ओर मुड़ा रहता है—जो भी अभीप्सा उसमें होती है वह विश्वास और आशा से भरपूर होती है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३५९-६०

यह मानना ग़लत है कि व्याकुलता की सतत अनुपस्थिति इस बात का लक्षण है कि भगवान् के लिए अभीप्सा या उनको पाने की इच्छा सच्ची नहीं है। भक्तियोग के कुछ एक ऐकान्तिक प्रकारों में निरन्तर व्याकुलता और हाहाकार मचा रहता है, यही उसका नियम है। हाहाकार बहुधा चैत्य नहीं बल्कि प्राणिक होता है। यहाँ हालाँकि चैत्य ललक कभी-कभी हो सकती है, या प्रायः तीव्र लहरों में उमड़ सकती है, लेकिन सचमुच आधार में सत्ता अचञ्चल रहती है, और उस अचञ्चलता में व्यक्ति सत्य को अधिकाधिक देख सकता है और अपने जीवन की आवश्यकता के रूप में प्रभु की खोज

में लगा रह सकता है ताकि धीरे-धीरे सब कुछ उन्हीं की ओर अधिकाधिक मुड़ जाये। जब ऐसा हो तभी अनुभूति और विकसनशील उपलब्धि प्राप्त होती हैं। चूँकि तुम्हारे अन्दर उद्‌घाटन हो रहा है, इसलिए तुम्हें श्रीमाँ की उपस्थिति का आभास हो रहा है। जैसे-जैसे आन्तरिक उपलब्धि विकसित होती जाती है वैसे-वैसे शरीर में उपस्थिति अपनी पूर्णता के साथ आकार ग्रहण करती जाती है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३५९

मुझसे पूछा गया है कि क्या माताजी और श्रीअरविन्द के अनुयायी राम, कृष्ण तथा अन्य देवी-देवताओं की पूजा कर सकते हैं या नहीं। मैंने कहा कि हमारे यहाँ कोई बँधे हुए नियम नहीं हैं जिनका सभी को अनुसरण करना पड़े, हर एक को वही करना चाहिये जो उसे अन्दर से ठीक लगे। मैंने कहा कि अगर कोई सच्चा है और भगवान् का सेवक बनना चाहता है तो वह माताजी और श्रीअरविन्द का नाम जाने बिना भी उनकी सेवा कर सकता है। वह माताजी को चाहे जिस नाम से पुकारे—राधा, कुमारी मरियम या हनुमान—उसे प्रत्युत्तर अवश्य मिलेगा। सब कुछ उसकी सच्चाई और श्रद्धा पर निर्भर करता है। हम न तो किसी से पूजा-पाठ करने के लिए कहते हैं न बन्द करने के लिए। आपका क्या कहना है?

बिलकुल ठीक।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३३७-३८

अगर तुम्हारे अन्दर श्रद्धा और विश्वास है, तो तुम गुरु के मानव-रूप की पूजा नहीं करते बल्कि उन परम प्रभु को पूजते हो जो उनके द्वारा प्रकट होते हैं।

परेशान मत होओ और जिस रास्ते से तुम्हें सहायता मिले उससे अपने-आपको पूरी तरह 'परम प्रभु' को दे दो।

प्रेम और आशीर्वाद-सहित।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ६६

पूजा

बाह्य भक्ति

यान्त्रिक या कृत्रिम भक्ति-जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती—या तो भक्ति होती है या नहीं होती। भक्ति तीव्र हो सकती है, तीव्र नहीं भी हो सकती, पूर्ण भी हो सकती है, अपूर्ण भी, कभी अभिव्यक्त हो सकती है, कभी छिपी हुई, लेकिन यान्त्रिक या कृत्रिम भक्ति, यह वाक्यांश अपने-आप ही अपना विरोध करता है।

*

ये (भक्ति के विरोध में तर्क) मन की बनायी हुई अतिशयोक्तियाँ हैं जो 'सत्य' का एक पक्ष लेती हैं और बाक़ी पहलुओं पर ध्यान नहीं देतीं। आन्तरिक भक्ति मुख्य चीज़ है और उसके बिना बाहरी मात्र एक रूप और एक परिपाटी बनी रहती है, लेकिन जब बाहरी भक्ति सीधी और सच्ची होती है तब उसका अपना स्थान और उपयोग होता है।

*

भक्ति केवल भगवान् के लिए होनी चाहिये—साधक साधक ही हैं जो भगवान् तक पहुँचना चाहते हैं, लेकिन फिर भी वे भूलों और संघर्षों से भरे होते हैं।

*

ऐसी "भक्ति" जो भगवान् से हर चीज़ के लिए दावा करती है और स्वयं को नहीं देती, सच्ची भक्ति नहीं है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३५५

प्रार्थना

प्रार्थना तथा अभीप्सा आध्यात्मिक जीवन के अंग हैं और समर्पण के साथ इनका विरोध नहीं है, बशर्ते कि व्यक्ति प्रार्थना की स्वीकृति या अस्वीकृति दोनों ही अवस्थाओं में विक्षुब्ध न हो तथा अपनी श्रद्धा और स्थिरता वैसे ही बनाये रखे। साधारण जीवन में प्रार्थना भगवान् के साथ मानवीय सम्बन्ध के मुख्य तत्त्वों में से एक है और प्रायः, किन्तु हमेशा नहीं, इसका उत्तर दिया जाता है; जब इसका उत्तर नहीं दिया जाता तब

भी धार्मिक व्यक्ति भगवान् में अपनी श्रद्धा बनाये रखता है और या तो यह समझता है कि उत्तर देना भागवत संकल्प नहीं था अथवा जब तक उसकी प्रार्थना सुनी नहीं जाती तब तक वह अधिक भावप्रवण होकर प्रार्थना करता रहता है—यह व्यक्ति और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। एक साधक दूसरों के लिए उनके मामलों में मध्यस्थ का काम कर सकता है, बशर्ते कि वह अनासक्त और समचित्त बना रहे, परन्तु वह हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य नहीं है।

*

निस्सन्देह, सभी प्रार्थनाओं की सुनवाई नहीं होती—अगर हर एक की प्रार्थना सुनी जाती—भले वह कितनी ही सच्ची क्यों न हो—तो संसार में ऐसा घपला छा जाता कि शायद जीवन दुश्वार हो उठता...। यहाँ तक कि भगवान् के प्रति की गयी प्रार्थना भी हमेशा तुरन्त नहीं सुनी जाती, उसी तरह जैसे श्रद्धा को हमेशा एकदम से मान्यता प्राप्त नहीं होती। प्रार्थना तथा श्रद्धा दोनों ही सिद्धि के पथ पर बढ़ने के लिए वे शक्तियाँ हैं जो मनुष्य को उसके संघर्ष में सहायता के रूप में दी जाती हैं—उनके बिना, यानी, अभीप्सा तथा इच्छा-शक्ति तथा श्रद्धा के बिना (क्योंकि अभीप्सा प्रार्थना ही है) मनुष्य के लिए कहीं भी पहुँच पाना मुश्किल होता। लेकिन ये सभी चीज़ें 'भागवत शक्ति' को क्रियाशील बनाने के साधन-मात्र हैं—और इससे पहले कि शक्तियाँ क्रियाशील बनें या कम-से-कम यह दिखलायी दे कि वे क्रिया करने लगी हैं या कुछ परिणाम ला रही हैं—इस सबके होने से पहले कभी-कभी व्यक्ति को बहुत, बहुत प्रतीक्षा करनी होती है।...

*

रही बात प्रार्थना की, तो इसमें कोई कड़े और कठोर नियम नहीं बनाये जा सकते। कुछ प्रार्थनाओं का उत्तर मिलता है, सबका नहीं। तुम पूछ सकते हो कि भला सभी प्रार्थनाओं का उत्तर क्यों नहीं मिल सकता? लेकिन ऐसा क्यों हो? यह कोई मशीन नहीं है: इस छेद में प्रार्थना डालो और दूसरी तरफ़ उसका जवाब आ जाये। इसके अतिरिक्त, सभी विरोधी चीज़ों के होते हुए भी समस्त मानवजाति अपने-अपने उद्देश्यों के लिए एक ही समय प्रार्थना करती है, और अगर प्रभु को हर एक की प्रार्थना का उत्तर देना पड़े तब तो उनकी बड़ी ही विचित्र दशा हो जायेगी! इससे

काम नहीं चलेगा।

*

हाँ, जब तुम संसार में रहते हो तब इस तरह की प्रार्थनाएँ प्रभु को निवेदित कर सकते हो *(जगत् की समस्याओं को सुलझाने हेतु सहायता के लिए प्रार्थना)*; लेकिन तुम्हें यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि प्रभु सभी प्रार्थनाओं का उत्तर देंगे और न यही सोचना चाहिये कि उन्हें उनका जवाब देना ही पड़ेगा। जब तुम साधक बन जाते हो तब प्रार्थना आन्तरिक वस्तुओं के लिए की जानी चाहिये जिनका सम्बन्ध साधना से हो, और बाहरी चीज़ों के लिए प्रार्थना, जहाँ तक ज़रूरी हो और जहाँ तक वे भागवत कार्य के लिए आवश्यक हों, करनी चाहिये।

*

प्रार्थना के बारे में तुम जो कह रहे हो वह सही है। वह यह कि (निर्वैयक्तिक प्रार्थना) उच्चतम प्रकार की प्रार्थना होती है, लेकिन दूसरे प्रकार की (उदाहरण के लिए, अधिक व्यक्तिगत प्रार्थना) भी की जा सकती है, यहाँ तक कि वह वाञ्छनीय भी है, और उसे करना चाहिये। उचित रूप से निवेदित सभी प्रार्थनाएँ हमें भगवान् के अधिक समीप ले आती हैं और 'उनके' साथ उचित सम्बन्ध स्थापित कर देती हैं।

*

जहाँ तक प्रार्थनाओं की बात है, प्रार्थना करने का तथ्य और उससे जो मनोभाव उत्पन्न होता है, विशेष रूप से दूसरों के लिए की गयी निस्स्वार्थ प्रार्थनाएँ, स्वयं तुम्हें उच्चतर 'शक्ति' की ओर खोल देती हैं, भले जिस व्यक्ति के लिए प्रार्थना की गयी हो, उसे प्रार्थना के अनुकूल परिणाम न भी मिले। इस बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परिणाम व्यक्तियों पर निर्भर करता है कि वे उसके प्रति ग्रहणशील हैं या फिर उनके अन्दर की कोई चीज़ उस शक्ति को प्रत्युत्तर दे सकती है जिसे प्रार्थना नीचे उतार लाती है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३६५-६७

... हे प्रभो, वर दे कि हम 'तेरी इच्छा' की परिपूर्ति में सचेतन और प्रभावकारी सहयोगी बनें। — श्रीमाँ

प्रभु पृथ्वी पर हैं

भगवान् को अभिव्यक्त करने वाली किसी भी चीज़ को मान्यता देने में लोग इतने अनिच्छुक होते हैं कि वे हमेशा दोष निकालने के लिए, ऊपर से दीखने वाली भूलों को खोजने के लिए और जो ऊँची चीज़ है उसे भी अपने स्तर तक उतार लाने के लिए बड़े सतर्क रहते हैं। कोई उनसे आगे बढ़ जाये तो बहुत क्रुद्ध हो उठते हैं और जब वे ऊपरी "त्रुटियाँ" पा लेते हैं तो बहुत ख़ुश होते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि अगर वे अपने असंस्कृत भौतिक मन के साथ धरती पर उपस्थित भगवान् के सामने भी आ जायें तो वे उन्हें भी असंस्कृत ही देखेंगे। वे ऐसी चीज़ देखने की आशा नहीं कर सकते जिसे देखने में वे स्वयं असमर्थ हैं या जिसे देखने के लिए वे अनिच्छुक हैं। अगर वे भगवान् के कार्यों की ऊपरी सतह को ही देखें तो निश्चय ही ग़लत राय बना बैठेंगे, क्योंकि वे यह बात कभी न समझ पायेंगे कि जो एकदम से मानव क्रिया-कलाप मालूम होता है वह सचमुच उससे बहुत भिन्न है और एक अ-मानव स्रोत से आता है।

भगवान् जब धरती पर कार्य करने के लिए प्रकट होते हैं तो ऐसा लगता है कि वे पूरी तरह मानव रीति से काम कर रहे हैं, लेकिन सचमुच ऐसा नहीं होता। प्रत्यक्ष तथा प्रतीत होने वाले मानकों से उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य अपनी हीनता पर पूरी तरह से मुग्ध होते हैं और किसी उच्चतर सत्य के आगे झुकने या उसे स्वीकार करने के लिए बिलकुल तैयार नहीं होते। अपने अन्दर से जिसे कोई चीज़ उच्चतर सत्य मानती है उसमें दोष ढूँढ़ने की यह इच्छा, उसकी आलोचना करने और उस पर सन्देह करने का दुर्भावनापूर्ण आवेग मानवता की मुहर है—यह क्षुद्र मानव का चिह्न है। जब कि दूसरी ओर, जहाँ भी सत्य, सुन्दर, उदात्त के लिए सहज प्रशंसा निकलती है तो यह एक तरह की भागवत अभिव्यक्ति है। तुम निश्चित रूप से जान लो कि जब तुम किसी चीज को दिव्य स्रोत से आया हुआ अनुभव करते हो और तुम्हारा हृदय उसकी प्रशंसा और आराधना करने के लिए उछल पड़ता है तो तुम्हारी भौतिक चेतना चैत्य पुरुष के, तुम्हारी अन्तरात्मा के सम्पर्क में आयी है।

जिस क्षण तुम इस प्रकार की चीज़ के सामने आओ उसी क्षण तुम्हारी आँखों में आनन्द के आँसू छलक आने चाहियें। वह बहुत तुच्छ व्यक्ति

है जो ऐसे समय रुक कर यह सोचता है, "हाँ, यह बड़ी चीज़ है लेकिन इसकी सराहना तभी की जा सकती है जब यह मेरे हिस्से में आ जाये। काश! मैं इस गुण का भाग्यवान् स्वामी होता, इस उच्चतर अभिव्यक्ति का यन्त्र होता।" तुम अपने अहं की चिन्ता किसलिए करो जब कि मुख्य बात तो यह है कि भगवान् अपने-आपको जहाँ और जैसे चाहें अभिव्यक्त करें? जब वे इस तरह अभिव्यक्त हों तो तुम्हें परितोष का अनुभव होना चाहिये। तुम्हें अपने दयनीय व्यक्तित्व के सीमित बन्धनों को तोड़ कर निस्स्वार्थ आनन्द में ऊँची उड़ान भरनी चाहिये। यह आनन्द इस बात का सच्चा चिह्न है कि तुम्हारी अन्तरात्मा जाग गयी है और उसने सत्य का बोध पा लिया है। और तभी तुम ऊपर से उतरते हुए सत्य के प्रभाव के प्रति खुल सकते हो और उसके द्वारा गढ़े जा सकते हो। मुझे ऐसे अवसर याद हैं जब मैं छोटे बच्चों को, यहाँ तक कि शिशुओं को भी कोई ऐसी चीज़ करते देखती जो दिव्य रूप से अत्यन्त सुन्दर और सरल हो तो मेरी आँखों में आँसू छलक आते थे। उस आनन्द का अनुभव करो और तुम अपने बीच भगवान् की उपस्थिति का लाभ उठा सकोगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १७०-१७१

मूर्तियाँ तथा पूजा

किन्तु क्या ये "मूर्तियाँ" केवल मनुष्य की रचनाएँ ही नहीं हैं? क्या इनका अपना अस्तित्व भी होता है?

रूप कुछ भी हो—जिसे हम तिरस्कार के भाव में "मूर्ति" कहते हैं—देवता का बाह्य रूप चाहे जो हो, चाहे हमारी भौतिक आँखों को कुरूप, अतिसाधारण या भयानक अथवा हास्यास्पद भी लगे, उसके अन्दर सदा उस वस्तु की उपस्थिति रहती है जिसका वह प्रतीक होता है। वहाँ एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होता है, चाहे वह पुरोहित हो या दीक्षित शिष्य, साधु हो या संन्यासी, जिसमें कुछ शक्ति होती है और जो—साधारणतया यह कार्य पुरोहित का होता है—शक्ति और अन्दर की उपस्थिति को खींचता है। और यह बात वास्तविक और सच्ची है कि वहाँ शक्ति और उपस्थिति होती भी है। लोग इसी की, इस उपस्थिति की ही पूजा करते हैं, लकड़ी,

पत्थर या धातु से बनी मूर्ति की नहीं।

किन्तु यूरोप के लोगों में यह आन्तरिक भाव नहीं होता, बिलकुल नहीं होता, क्योंकि उनके लिए हर वस्तु मानों ऊपरी तल है, इतना ही नहीं, ऊपरी तल की भी एक झीनी फ़िल्म, जिसके पीछे कुछ नहीं है। इसलिए वे ये सब अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु मैं इस बात की पुष्टि करती हूँ कि वहाँ उपस्थिति का होना एक तथ्य है, एक पूर्णतया सच्चा तथ्य।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १०८

पूजा के तीन अंश

"यह कहा जा सकता है कि दिव्य प्रेम और पूजा के पूर्ण कर्म में तीन अंश होते हैं जो एक ही अखण्ड सत्ता की अभिव्यक्तियाँ होते हैं—कर्म में भगवान् की क्रियात्मक पूजा, कर्म के बाह्य रूप में किसी दिव्य दृष्टि और जिज्ञासा को या भगवान् के साथ के किसी सम्बन्ध को प्रकट करने वाला पूजा-प्रतीक, और तीसरा हृदय, अन्तरात्मा और आत्मा में एकत्व या एकत्वानुभूति के लिए आन्तरिक आराध्य-भाव और अतिस्पृहा।" (श्रीअरविन्द, 'योग-समन्वय')

मैं इसके पहले दो अंशों को अच्छी तरह नहीं समझ पाया।

कर्म का एक विशुद्ध भौतिक रूप, पूजा-पद्धतियों के उन रूपों के जैसा एक रूप होता है जिनमें कोई विशेष भाव-भंगिमा, कोई विशेष क्रिया पूजा-भाव को अभिव्यक्त करने के लिए व्यवहार में लायी जाती है। वह शुद्ध रूप में भौतिक होती है, उदाहरणार्थ, धूपबत्ती जलाना, पूजा-सामग्री को सजा कर रखना, यहाँ तक कि मन्दिर की देख-भाल करना, मूर्ति को सजाना इत्यादि विशुद्ध भौतिक कार्य।

दूसरा भाग होता है एक प्रकार का मानसिक पूजा-भाव जो कर्म को प्रतीक बना देता है। तब मनुष्य धूपबत्ती जलाने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि धूपबत्ती जलाते समय वह उसे प्रतीकात्मक बना देता है जो, उदाहरणार्थ, शरीर में जलती हुई अभीप्सा का अथवा आत्म-विलोपन के लिए, अग्नि के शुद्धीकरण के लिए किये गये आत्मदान का प्रतीक होता

है। कहने का मतलब, पहले तो कर्म होता है, फिर इस कर्म का प्रतीक, और जो कुछ किया जाता है उसकी प्रतीकात्मक समझ होती है।

और अन्त में, इन दोनों के पीछे, एकत्व की अभीप्सा होती है; कि यह सब, ये कर्म तथा इनके साथ संयुक्त प्रतीक भगवान् के क्रमशः अधिकाधिक समीप जाने तथा अपने-आपको उनके साथ युक्त होने के उपयुक्त बनाने के साधन-मात्र बनें।

इसलिए, कर्म को पूर्ण बनने के लिए ये तीन चीज़ें अवश्य होनी चाहियें : अर्थात्, कोई शुद्ध भौतिक वस्तु, कोई मानसिक वस्तु, और कोई चैत्य वस्तु, चैत्य अभीप्सा। यदि तीनों में से बाक़ी दोनों के बिना कोई एक वस्तु हो तो वह कर्म अपूर्ण होगा। सामान्यतया, बहुत विरल प्रसंगों में ही ये तीनों सचेतन रूप में संयुक्त होते हैं। ये चीज़ें उन्हीं लोगों में पायी जाती हैं जो अपनी सच्चाई और आत्मदान में असामान्य होते हैं। उन लोगों की सम्पूर्ण सत्ता, अपने सभी भागों में, उस कर्म में भाग लेती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २८३-८४

देवी-देवताओं के रूप

मैंने प्राणिक और मानसिक जगत् में उनमें से (देवी-देवताओं के) कुछ रूप देखे हैं जो सचमुच मनुष्य के रचे हुए थे। परे की एक शक्ति है जो अभिव्यक्त होती है। लेकिन मिथ्यात्व के इस त्रिविध जगत् में मनुष्य ने—कम या अधिक रूप में—भगवान् को सचमुच अपने ही रूप और आकार में गढ़ा है, और ऐसी सत्ताएँ हैं जो उन रूपों में अभिव्यक्त होती हैं जो मानव के सर्जनशील विचार का परिणाम हैं। और तब, यह सचमुच भयंकर होता है! मैंने ऐसी कुछ रचनाएँ देखी हैं... *(मौन)* और वे इतनी अन्धकारपूर्ण होती हैं, इतनी अबोधगम्य, इतनी अर्थशून्य...

कुछ देवता हैं जिनके साथ औरों की अपेक्षा ज़्यादा बुरा व्यवहार किया जाता है। उदाहरण के लिए, वह बेचारी महाकाली, जानते हो, उसके साथ कैसी चीज़ें की जाती हैं!... यह इतना *भयंकर* है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती! लेकिन यह चीज़ केवल बहुत निचले जगत् में होती है... हाँ, निम्नतम प्राण में; और इसमें मूल सत्ता की जो चीज़ होती है... वह प्रतिच्छाया है जो मूल से इतनी दूर होती है कि उसे पहचाना नहीं जा

सकता। फिर भी, सामान्यतः, इसी को मानव चेतना अपनी ओर आकर्षित करती है। और जब तुम एक मूर्ति बनाते हो, है न, और पुजारी उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करता है—जब मूर्ति-स्थापना का धार्मिक अनुष्ठान यथाविधि किया जाता है, तो पुजारी आह्वान करने की आन्तरिक अवस्था में जाता है और एक ऐसे रूप को या देवता की किसी अंश-विभूति को मूर्ति में उतारने की कोशिश करता है जो उसे शक्ति प्रदान करे—अगर वह पुजारी ऐसा व्यक्ति है जिसमें सचमुच आह्वान करने की शक्ति है तो वह सफल हो सकता है। लेकिन सामान्यतः—हर चीज़ में अपवाद होते हैं—लेकिन सामान्यतः पुजारी ऐसे व्यक्ति होते हैं जो परम्परागत सामान्य प्रथाओं द्वारा प्रशिक्षित होते हैं। हाँ, तो जब वे उस देवता के बारे में सोचते हैं जिसका वे आह्वान कर रहे हैं तो वे उनको प्रदान किये गये सब गुणों और रूपों को मन में रखते हुए सोचते हैं, और, साधारणतः, वह आह्वान प्राण-जगत् की सत्ताओं को या अधिक-से-अधिक मानसिक जगत् की सत्ताओं को सम्बोधित हो जाता है, स्वयं 'परम सत्ता' को नहीं। और ये ही वे छोटी-छोटी सत्ताएँ हैं जो इस या उस मूर्ति में अभिव्यक्त होती हैं। छोटे मन्दिरों में, यहाँ तक कि परिवारों में भी—कुछ लोगों के घरों में, जानते हो, छोटे-से मन्दिर होते हैं जिनमें कुल-देवता की मूर्ति होती है—ये सत्ताएँ उनमें अभिव्यक्त होती हैं; कभी-कभी तो इससे दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम आते हैं, क्योंकि ये ऐसे रूप हैं जो मूल देवता से **इतनी** दूर हैं कि... वे बेढंगी रचनाएँ होती हैं। कुछ परिवारों में ऐसी कालियों की पूजा की जाती है जो सचमुच दानव-सी होती हैं!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३१३-१५

धार्मिक कीर्ति-स्तम्भ

सभी धार्मिक कीर्ति-स्तम्भों में, ऐसे कीर्ति-स्तम्भों में जो लोगों की दृष्टि में... जो सबसे महान् माने जाने वाले धर्मों के कीर्ति-स्तम्भ हैं, चाहे वे फ़्रांस में हों या किसी और देश में हों या जापान में—वे कभी एक ही प्रकार के मन्दिर या गिरजाघर न थे, न एक ही देवता थे, और फिर भी हर जगह मेरा अनुभव लगभग एक ही रहा, फ़र्क नाममात्र को था—मैंने देखा कि गिरजाघर में जो भी केन्द्रित शक्ति थी वह पूर्ण रूप से भक्तों पर, भक्तों

की श्रद्धा के परिमाण के अनुसार थी। और उस शक्ति में भी, जैसी कि वह सचमुच थी और जैसी वे अनुभव करते थे, उसमें भी भेद था। उदाहरण के लिए, फ़्रांस के सबसे सुन्दर गिरजाघरों में से एक में, एक ऐसा गिरजाघर जो कला की दृष्टि से सचमुच इतना भव्य है कि शानदार कल्पना की सीमा तक जा पहुँचता है, उसके सबसे पवित्र स्थान में मैंने एक दीर्घाकार, काली प्राणिक मकड़ी देखी। उसने अपना जाल बना कर सब जगह फैला रखा था। उसमें वह लोगों की भक्ति से, उनकी प्रार्थनाओं आदि से निःसृत शक्तियों को पकड़ कर आत्मसात् कर लेती थी। वह कोई सुखद दृश्य नहीं था; जो लोग वहाँ थे और प्रार्थना कर रहे थे वे एक दिव्य स्पर्श का अनुभव कर रहे थे, उन्हें अपनी प्रार्थनाओं के फलस्वरूप नाना प्रकार के वरदान मिल रहे थे। और फिर भी वहाँ जो चीज़ थी वह यही, यही थी। लेकिन लोगों में अपनी श्रद्धा थी, वह श्रद्धा जो उनके अन्दर इस बुरी चीज़ को अच्छी में बदल सकती थी, उनमें अपनी श्रद्धा थी। इसलिए, सचमुच, अगर मैं वहाँ गयी होती और उनसे कहती: "तुम समझते हो कि तुम भगवान् से प्रार्थना कर रहे हो? एक बड़ी प्राणिक मकड़ी तुम्हारी सारी शक्तियों से परिपुष्ट हो रही है!" तो यह बहुत हितकर बात न होती। और अधिकतर, प्रायः सभी जगह यही होता है। वहाँ एक प्राण-शक्ति रहती है, क्योंकि ये प्राणिक सत्ताएँ मानव भावनाओं के स्पन्दनों से पलती हैं। ऐसे बहुत कम लोग हैं, बहुत ही कम, उनकी संख्या न के बराबर है, जो सच्ची धार्मिक भावना के साथ गिरजाघर या मन्दिर जाते हैं, यानी, किसी चीज़ के लिए प्रार्थना करने या भगवान् से कुछ माँगने के लिए नहीं, बल्कि अपने-आपको समर्पित करने के लिए, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, अभीप्सा और आत्म-समर्पण करने के लिए जाते हैं। ऐसा करने वाला मुश्किल से लाखों में एक होता है। इसीलिए उनमें इस वातावरण को बदलने की शक्ति नहीं होती। हो सकता है कि जिस क्षण ऐसे लोग वहाँ होते हैं उस समय वे इस चीज़ को पार करने, भेदने, कहीं पहुँच कर किसी दिव्य चीज़ का स्पर्श पाने में सफल हो जाते हों। लेकिन बहुत बड़ी संख्या में जो लोग केवल अन्धविश्वास, अहंकार और अपने स्वार्थ के कारण जाते हैं, वे इस प्रकार का वातावरण बना देते हैं, और जब तुम किसी मन्दिर या गिरजाघर में जाते हो तो तुम इसी वातावरण में साँस लेते हो। केवल इतना ज़रूर है

कि चूँकि तुम बड़ी सद्भावना के साथ जाते हो इसलिए तुम कहते हो: "ओह! ध्यान के लिए कितनी शान्त जगह है!"

यह खेद की बात है, लेकिन है ऐसी ही। मैं तुमसे कहती हूँ, मैंने सब जगह जान-बूझकर थोड़ा-बहुत परीक्षण किया है। शायद मुझे कुछ ऐसे छोटे-छोटे स्थान मिले होंगे, जैसे कभी-कभी गाँव का कोई छोटा-सा गिरजाघर जहाँ ध्यान के लिए एक छोटा-सा कोना था, बहुत शान्त, बहुत नीरव, बहुत निःशब्द, जहाँ अभीप्सा थी; लेकिन यह बहुत विरल था! मैंने इटली के सुन्दर गिरजाघर देखे हैं जो बहुत भव्य हैं; वे इन प्राणिक सत्ताओं से और आतंक से भरपूर थे। मुझे याद है, वेनिस के एक महामन्दिर (बेसिलिका) में मैंने एक चित्र बनाया था और जब मैं काम कर रही थी तब "पाप-स्वीकार-कक्ष" में एक पादरी किसी ग़रीब महिला का "पाप-स्वीकार" सुन रहा था। हाँ तो, वह सचमुच भयावह दृश्य था! मुझे मालूम नहीं कि पादरी कैसा था, उसका चरित्र कैसा था। वह दिखायी नहीं देता था—तुम जानते हो न कि ये पादरी दिखायी नहीं देते, वे एक कोठरी में बन्द रहते हैं और एक जाली में से "पाप-स्वीकार" सुनते हैं। पादरी के ऊपर एक ऐसी शोषक और अन्धकारपूर्ण शक्ति थी, और वह बेचारी महिला ऐसे भयानक आतंक की अवस्था में थी कि उसे देखना सचमुच कष्टकर था। और ये सब लोग मानते हैं कि यह कोई पवित्र चीज़ है! लेकिन यह उन विरोधी प्राण-शक्तियों का एक जाल है जो अपने-अपने पोषण के लिए इन सब चीज़ों का उपयोग करती हैं। इसके अतिरिक्त, अदृश्य लोक में प्राणिक सत्ताओं के सिवाय शायद ही किसी को पूजा करवाना प्रिय हो। जैसा कि मैंने कहा, इन्हें यह अच्छा लगता है। और फिर, इससे इन्हें महत्त्व मिलता है। वे घमण्ड से फूल उठती हैं और बहुत ख़ुश होती हैं। और अगर उन्हें ऐसे लोगों का एक झुण्ड मिल जाये जो उन्हें पूजता हो, तब तो वे पूरी तरह सन्तुष्ट हो जाती हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२२-२४

पूजा तथा सच्चे देवता

लेकिन अगर तुम सच्ची दिव्य सत्ताओं को लो, तो ये ऐसी चीज़ को बिलकुल कोई मूल्य नहीं देतीं। उन्हें अपनी पूजा करवाना अच्छा नहीं लगता। नहीं, उन्हें इससे कोई विशेष ख़ुशी नहीं होती! यह मत सोचो कि

वे सन्तुष्ट होती हैं, क्योंकि उनमें घमण्ड नहीं होता। घमण्ड के कारण ही मनुष्य को पूजा करवाना अच्छा लगता है; अगर व्यक्ति के अन्दर घमण्ड न हो तो उसे यह अच्छा नहीं लगता कि उसे पूजा जाये; और उदाहरण के लिए, अगर वे एक अच्छा इरादा, एक अच्छी भावना, या एक निष्काम क्रिया, या उत्साह या आनन्द, आध्यात्मिक आनन्द देखें तो ये चीज़ें उनके लिए प्रार्थना, आराधना या पूजाओं से अनन्त गुना अधिक मूल्य रखती हैं...।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि मैं तुमसे जो कह रही हूँ वह बहुत ही गम्भीर बात है : अगर तुम एक सच्चे देवता को कुर्सी पर बिठा दो और जब तक तुम्हारी पूजा चलती रहे तब तक वहीं बैठे रहने के लिए बाधित करो तो शायद तुम्हें पूजा करते हुए देख कर उनका मनोरञ्जन तो हो, लेकिन निश्चय ही उन्हें किसी प्रकार का सन्तोष नहीं होता। बिलकुल नहीं! तुम्हारी पूजा से न तो वे फूल उठते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उनकी महिमा ही बढ़ती है। इस विचार को निकाल बाहर कर देना चाहिये। आध्यात्मिक और भौतिक लोकों के बीच एक पूरा-का-पूरा प्राणिक शक्तियों का प्रभाव-क्षेत्र है, और यही वह क्षेत्र है जो इन चीज़ों से भरपूर रहता है, क्योंकि ये सत्ताएँ उन पर जीती हैं, उनसे सन्तुष्ट हैं और यहाँ उन्हें तुरन्त महत्त्व मिल जाता है; और उनमें से जिसके सबसे ज़्यादा विश्वासी, भक्त और आराधक होते हैं वही सत्ता सबसे अधिक ख़ुश होती है और सबसे ज़्यादा फूल उठती है। लेकिन हम कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि देवताओं को यह पसन्द होगा...। देवता—मैं सच्चे देवताओं की बात कर रही हूँ, 'अधिमानस' के देवताओं की भी, यद्यपि वे अभी तक कुछ-कुछ... ऐसे-वैसे हैं... ऐसा लगता है कि उन्होंने बहुत-से मानवीय दोष अपना लिये हैं, फिर भी, इस सबके बावजूद, उनकी चेतना सचमुच उच्चतर होती है—उन्हें इन चीज़ों से ज़रा भी ख़ुशी नहीं होती। सच्ची हितैषिता की, बुद्धिमानी, निस्वार्थता, या सूक्ष्म समझदारी की या एकदम सच्ची अभीप्सा की क्रिया उनके लिए एक छोटी-सी धार्मिक पूजा की अपेक्षा अनन्तगुना ऊँची होती है। अनन्तगुना! दोनों में कोई तुलना नहीं। धार्मिक क्रियाएँ! उदाहरण के लिए, ऐसी कितनी ही सत्ताएँ हैं जिन्हें काली कहा जाता है—और जिन्हें, इसके अतिरिक्त, काफ़ी भयंकर रूप दिये जाते हैं—ऐसी कितनी ही हैं जिन्हें घरों में गृहदेवी के रूप में स्थापित किया गया है; ये सब भयंकर प्राणिक-शक्ति से भरपूर

होती हैं! मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो अपने घर में प्रतिष्ठित काली से इतना डरते थे कि छोटी-से-छोटी भूल करते ही काँप उठते थे, क्योंकि जब उन पर महाविपत्तियाँ टूटतीं तो वे मानते थे कि उन्हें काली ने ही भेजा है! ऐसा विचार ही एक भयंकर चीज़ है। मैं इन सत्ताओं को जानती हूँ। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूँ, लेकिन ये प्राण की सत्ताएँ हैं, प्राण की रचनाएँ जिन्हें, कहना चाहिये, रूप दिया है मनुष्य के मन ने, और रूप भी कैसा! और यह सोचना कि मनुष्य इतनी भयावह और विकराल चीज़ों की पूजा करते हैं; और तिस पर ये बेचारे देवता जिनका यह अभिनन्दन किया जाता है कि ये...।

इस दृष्टिकोण से यह बहुत अच्छा है कि कुछ समय के लिए मानवजाति इस धार्मिक वातावरण से बाहर निकल आये जो भय से और उस अन्धे, अन्धविश्वासी आत्म-समर्पण से भरपूर है जिसका विरोधी शक्तियों ने भयंकर रूप से अनुचित लाभ उठाया है। इस दृष्टिकोण से, मनुष्यों को अन्धविश्वास से मुक्त करने के लिए प्रत्याख्यान, अर्थात् इन्कार और प्रत्यक्षवाद का युग एकदम अनिवार्य है। इन सब चीज़ों से, पैशाचिक प्राण-शक्तियों के प्रति घृणित समर्पण से बाहर निकल कर ही हम सच्ची आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक उठ सकते हैं और तब 'सत्य' की शक्तियों के, वास्तविक 'चेतना' और सच्ची 'शक्ति' के सहयोगी और सच्चे यन्त्र बन सकते हैं।

और ऊपर उठने से पहले व्यक्ति को इन सब चीज़ों को दूर, बहुत दूर छोड़ देना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२४-२५

पूजा का आध्यात्मिक मूल्य

मधुर माँ! क्या दुर्गा और काली की पूजा का कोई आध्यात्मिक मूल्य है?

यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौन पूजा करता है।

वास्तव में आध्यात्मिक मूल्य के लिए यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। योग की सर्वांगपूर्णता तथा सम्पूर्ण सत्य के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी अभीप्सा को किसी एक या दूसरे रूप तक सीमित न कर दिया

जाये। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, पूजा चाहे किसी की भी हो, यदि पूजा की क्रिया पूर्णतः सच्ची हो, यदि आत्म-दान सर्वांगीण और निःशेष हो तो आध्यात्मिक परिणाम एक-समान हो सकता है; कारण, तुम्हारे इष्टदेव चाहे कोई भी या कुछ भी क्यों न हो, उसके द्वारा—कभी-कभी उसके बावजूद—तुम सर्वदा अपने आत्म-निवेदन की सच्चाई की मात्रा और अनुपात में परात्पर सद्वस्तु तक पहुँच जाते हो।

यही कारण है कि सर्वदा यह कहा जाता है कि इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि भगवान् के किस रूप की तुम आराधना करते हो अथवा यहाँ तक कि किसको तुम अपना पथ-प्रदर्शक चुनते हो, यदि तुम्हारा आत्म-दान पूर्ण है और तुम सम्पूर्णतः सच्चे हो तो आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त करना तुम्हारे लिए **सुनिश्चित** है।

परन्तु जब तुम पूर्णयोग की सिद्धि प्राप्त करना चाहते हो तब परिणाम एक-सा नहीं होता। तब तुम्हें किसी भी तरह, यहाँ तक कि अपने आत्म-निवेदन के पथ से भी अपने-आपको सीमित नहीं कर लेना चाहिये...। केवल, ये दोनों बहुत अलग-अलग वस्तुएँ हैं।

आध्यात्मिक उपलब्धि—जिस रूप में पुराने समय में उसे समझा जाता था, जैसा कि उसे अब भी सामान्यतया समझा जाता है—वह है किसी-न-किसी प्रकार से, चाहे अपने अन्दर अथवा किसी-न-किसी रूप के द्वारा, परात्पर के साथ एकत्व प्राप्त करना; यह है परात्पर के अन्दर, परम के अन्दर तुम्हारी सत्ता का विलयन, इस विलयन में तुम्हारे व्यक्तित्व का लगभग तिरोधान। यह, तुम जिसे अपने-आपको दे देना चाहते हो, उस इष्टदेव के चुनाव की अपेक्षा पूर्णतः निर्भर करता है तुम्हारे आत्म-दान की सच्चाई तथा परिपूर्णता पर। कारण... तुम्हारी अभीप्सा की सच्चाई ही तुम्हें सभी सीमा-बन्धनों के पार ले जायेगी और परात्पर को खोज निकालेगी, क्योंकि तुम स्वयं अपने अन्दर 'उन्हें' वहन करते हो।

चाहे तुम उन्हें बाहर खोजो, चाहे तुम उन्हें अन्दर खोजो, चाहे तुम उन्हें साकार रूप में खोजो या निराकार में, यदि तुम्हारी अभीप्सा पर्याप्त रूप में सच्ची है और तुम्हारा संकल्प पर्याप्त रूप में सच्चा है तो तुम्हारा लक्ष्य पर पहुँचना निश्चित है।

परन्तु तुम यदि परिपूरक क्रिया अपनाना चाहो जिसकी चर्चा श्रीअरविन्द

करते हैं, अर्थात्, तुम अपने अन्दर इस एकत्व को उपलब्ध करने के बाद बाह्य चेतना और जगत् में वापस आ जाओ तथा इस बाह्य चेतना और जगत् को रूपान्तरित करना चाहो, तो ऐसी स्थिति में तुम अपने को किसी भी भाँति सीमित नहीं कर सकते, क्योंकि तब तुम अपना कार्य पूरा करने में समर्थ ही नहीं होओगे।

मुख्यतः, तुम्हें भगवान् के साथ इस एकत्व को सभी रूपों में, सभी भावों में, प्रत्येक ढंग से, जिसका व्यवहार उन्हें प्राप्त करने के लिए किया जा चुका है, उपलब्ध करने में समर्थ होना होगा। और फिर तुम्हें उसके भी परे चले जाना होगा और एक नया मार्ग ढूँढ़ निकालना होगा।

अतएव, सबसे पहली बात जो तुम्हारे विचार में सुस्पष्ट होनी चाहिये —और यह सबसे अधिक महत्त्व की बात है—वह है : तुम्हें पूर्णयोग को अन्य आध्यात्मिक उपलब्धियों के साथ उलझाना नहीं चाहिये; वे उपलब्धियाँ बहुत ऊँची हो सकती हैं पर वे एक बहुत सीमित क्षेत्र में ही काम करती हैं, क्योंकि उनकी क्रिया केवल गहराई में ही होती है।

तुम अपनी अभीप्सा के द्वारा एक छिद्र बना सकते हो और चाहे किसी भी वस्तु के द्वारा गहराई में क्रिया कर सकते हो। सब कुछ निर्भर करता है तुम्हारी अभीप्सा की तीव्रता और सच्चाई पर—सच्चाई पर कहने का मतलब, इस बात पर कि कितनी हद तक तुम्हारा आत्म-समर्पण पूर्ण, सर्वांगीण, विशुद्ध है। परन्तु यह बात उस रूप पर नहीं निर्भर करती जिसे तुमने चुना है : अवश्य ही पीछे जाकर यह देख पाने के लिए कि वहाँ क्या है, तुम्हें उसे पार करना ही होगा।

परन्तु यदि तुम अपने स्वभाव और अपनी सत्ता को रूपान्तरित करना चाहते हो, और तुम यदि एक नवीन जगत् की सृष्टि में हाथ बँटाना चाहते हो तो फिर यह अभीप्सा, यह तीक्ष्ण और सीधी नोक अब पर्याप्त नहीं है। तुम्हें प्रत्येक वस्तु को आवेष्टित कर लेना होगा और प्रत्येक वस्तु को अपनी चेतना के अन्दर ले लेना होगा।

स्वाभाविक है कि यह बात बहुत अधिक कठिन है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २९४-९६

धीरज और अध्यवसाय के साथ सभी प्रार्थनाएँ पूरी होती हैं। श्रीमाँ

पूजा का धार्मिक मूल्य

माँ, "मानव प्रकृति में यह दिव्य तत्त्व" क्या चीज़ है जो अपनी आध्यात्मिक तृप्ति की पूर्णता के लिए सदैव प्रतीकों की अपेक्षा रखती है?

यह सत्ता का ठीक वही भाग है जो अमूर्त विचार से तथा जीवन से पलायन करने और उससे कन्नी काटने से एवं वह जैसा है वैसा ही उसे छोड़ देने से सन्तुष्ट नहीं होता। वास्तव में सत्ता का यही भाग है जो सर्वांगीण होना चाहता है, सर्वांगीण रूप से रूपान्तरित होना चाहता है अथवा किसी भी प्रकार आन्तरिक उपासना में सर्वांगीण रूप से भाग लेना चाहता है।

प्रत्येक सामान्य व्यक्ति में इस बात का प्रयोजन, इस बात की आवश्यकता—चरम आवश्यकता—होती है कि आन्तरिक रूप में वह जो कुछ अनुभव करता और जो कुछ चाहता है उसे एक भौतिक रूप में रूपायित करे। जो लोग आत्म-सिद्धि प्राप्त करने के लिए हमेशा जीवन से दूर भागने की इच्छा करते हैं उन्हें मैं असामान्य और अपूर्ण समझती हूँ। और वस्तुतः ये लोग साधारणतया दुर्बल स्वभाव के होते हैं। परन्तु जिन लोगों में बल-सामर्थ्य, शक्ति और एक प्रकार का स्वस्थ सन्तुलन होता है, वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि को भौतिक रूप में संसिद्ध करने की ऐकान्तिक आवश्यकता अनुभव करते हैं। वे बादलों में या ऐसे जगतों में चले जाने से सन्तुष्ट नहीं होते जहाँ अब आकारों का कोई अस्तित्व नहीं होता। वे चाहते हैं कि उनकी भौतिक चेतना और उनका शरीर तक उनकी आन्तरिक अनुभूति में हाथ बँटाये।

अब, यह कहा जा सकता है कि किसी धर्म को, जैसा कि वह बना-बनाया मिल गया है, अंगीकार करने या उसका अनुसरण करने या उसमें भाग लेने की आवश्यकता बहुत कुछ मानव-प्राणियों में विद्यमान "दल-प्रवृत्ति" से उत्पन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यथार्थ वस्तु होगी उस उपासना-पद्धति या धर्म-सम्प्रदाय को खोज निकालना जो उसका अपना है और सहज-स्वाभाविक तथा व्यक्तिगत रूप से भगवान् के साथ उसके अपने विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करता है; वही होगी आदर्श अवस्था।

दूसरी ओर, किसी धर्म को इसलिए अपनाना कि उस धर्म में हमारा

जन्म हुआ है अथवा इसलिए कि हम जिन लोगों से प्यार करते और जिन पर विश्वास करते हैं वे लोग उसी धर्म का पालन करते हैं अथवा इसलिए कि जब हम किसी ऐसे विशेष स्थान पर जाते हैं जहाँ दूसरे प्रार्थना करते और पूजा करते हैं तो हमें अपनी निजी प्रार्थना तथा पूजा में सहायता मिलती प्रतीत होती है, यह किसी बहुत प्रबल स्वभाव का परिचायक नहीं है। मैं कहूँगी कि यह तो एक कमज़ोरी का अथवा हर हालत में मौलिकता के अभाव का चिह्न है।

परन्तु आन्तरिक अभीप्सा और आराधना को अपने भौतिक जीवन के रूपों में बदल देना बिलकुल न्यायसंगत है, और यह उस मनुष्य के कार्य से बहुत अधिक सच्चा कार्य है जो अपने को दो भागों में बाँट देता है, बिलकुल यन्त्रवत् तथा मामूली ढंग से भौतिक जीवन यापन करता है तथा, जब उसके लिए सम्भव होता है, जब उसे समय मिलता है अथवा जब यह उसके अनुकूल होता है, स्वयं अपने अन्दर प्रवेश कर जाता है, भौतिक जीवन तथा भौतिक चेतना से बाहर निकल आता है और अपने आध्यात्मिक आनन्दों को प्राप्त करने के लिए सुदूर ऊँचाइयों पर चला जाता है।

जो व्यक्ति अपने भौतिक जीवन को अपनी उच्चतम अभीप्सा की अभिव्यक्ति बनाने की कोशिश करता है वह अवश्यमेव उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उदात्त, अधिक उन्नत और अधिक सच्चा है जो अपने को यह कह कर दो भागों में बाँट देता है कि बाहरी जीवन का कोई महत्त्व नहीं है और यह कभी परिवर्तित नहीं होगा और इसे उसी रूप में स्वीकार करना होगा जैसा कि यह है और यथार्थ में मात्र आन्तरिक मनोभाव ही मूल्यवान् है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २९६-९९

प्राण-शक्ति के सूक्ष्म जगत् की सत्ताएँ, जिनके साथ हमारे प्राण का सम्बन्ध होता है, अपने भक्तों की पूजा पर ही जीती और पनपती हैं। इसीलिए वे हमेशा नये-नये मत-मतान्तरों और धर्मों की प्रेरणा देती रहती हैं ताकि उनकी पूजा और ठकुरसुहाती का भोज कभी समाप्त न होने पाये।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १५२

मधुर माँ,

पिछले अगस्त में 'ज्ञ' मुझसे मिला और उसने मुझसे पूछा कि क्या श्रीअरविन्द तथा माताजी के भक्तों के लिए अपने केन्द्रों में अन्य देवी-देवताओं की पूजा करना उचित है? उसका कहना है कि ऐसे लोगों के द्वारा बहुत भ्रान्ति फैली हुई है जो यह लिखते तथा इसकी शिक्षा देते हैं कि अतिमानसिक योग उन देवी-देवताओं की पूजा द्वारा किया जा सकता है और लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है जिनकी पूजा करने के लोग अभ्यस्त हैं। पुराने पुराणों, तुलसीदास की रामायण इत्यादि की व्याख्या श्रीअरविन्द तथा माताजी के आदर्श को बढ़ाने की दृष्टि से की जाती है। उनका दृष्टिकोण यह है कि श्रीकृष्ण, राम, सीता—सभी अतिमानसिक सत्य प्रदान कर सकते हैं।

जो लोग अब भी देवताओं पर विश्वास रखते हैं वे निश्चय ही उनकी पूजा जारी रख सकते हैं—अगर वे ऐसा करना चाहें—लेकिन उन्हें इस बात का पता होना चाहिये कि इस सिद्धान्त तथा इस पूजा-अर्चना का श्रीअरविन्द की शिक्षा के साथ कोई वास्ता नहीं और 'अतिमानसिक उपलब्धि' के साथ किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ४९९-५००

अगर धरती पर दिव्य सृष्टि को चरितार्थ करना है तो देवताओं को भी 'परम प्रभु' के प्रति समर्पण करना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १४

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. तुम्हें जो काम करना हो उसे हमेशा ख़ुशी से करो।
आनन्द से किया गया काम, अच्छी तरह किया गया काम होता है।

२. जब तुम यह समझ जाओगे कि विद्रोह करना सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ चीज़ है और जब तुम विद्रोह करने की इस बुरी आदत को छोड़ दोगे तब तुम देखोगे कि तुम्हारे दुःख-दर्द भी चले जायेंगे और उनके स्थान पर आयेगा अपरिवर्तित सुख।

३. प्र. पता नहीं, मैं अपनी सारी हँसी-ख़ुशी और शान्ति क्यों खो बैठा हूँ। पता नहीं, वह मेरे हृदय में कब लौट कर आयेगी। हे मेरी मधुर माँ, मैं क्या करूँ?

उ. जब किसी का ध्यान अपनी ओर लगा रहता है तो वह कभी सुखी नहीं रहता। जब कोई हर गुज़रते हुए आवेग को अपने ऊपर शासन करने देता है तो वह कभी शान्त नहीं रहता। काम और आत्म-संयम के द्वारा ही तुम सुख और शान्ति पा सकते हो।

४. यह बिना कारण का दुःख काम करते समय भी आ सकता है, परन्तु बिना काम के तो अवस्था और भी ख़राब होगी। काम में ही तुम सन्तुलन और आनन्द पा सकते हो। तुम्हारी सहायता करने और तुम्हें सहारा देने के लिए मैं हमेशा साथ रहती हूँ।

५. तुम्हें खुलना इसलिए कठिन लगता है क्योंकि तुमने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि अपनी इच्छा को नहीं, मेरी इच्छा को अपने जीवन पर शासन करने दोगे। जैसे ही तुम इसकी आवश्यकता समझ जाओगे, हर चीज़ ज़्यादा आसान हो जायेगी और अन्ततः तुम उस शान्ति को पाने-योग्य हो जाओगे जिसकी तुम्हें इतनी अधिक ज़रूरत है।

६. उस दिन मैं कितनी ख़ुश होऊँगी जब तुम सदा, सभी परिस्थितियों में बलवान् और प्रसन्न अनुभव करोगे। शान्ति तुम्हारे ऊपर है, उसे

अपने अन्दर प्रवेश करने दो और शान्ति में तुम प्रकाश पाओगे और प्रकाश तुम्हारे लिए ज्ञान लायेगा।

७. मैं तुम्हारे उस विचार और उस अभीप्सा में हूँ जिसे तुम मेरी ओर मोड़ते हो। अगर तुम हमेशा मेरी चेतना में उपस्थित न होते तो तुम कभी मेरे बारे में सोच ही न पाते। इसलिए तुम मेरी उपस्थिति के बारे में निश्चित हो सकते हो।

८. एकाग्रता का अर्थ ध्यान नहीं है। इसके विपरीत एकाग्रता तो एक ऐसी स्थिति है जिसमें तुम्हें हमेशा रहना चाहिये—बाहरी क्रिया-कलाप कुछ भी क्यों न हो। एकाग्रता से मेरा मतलब है, समस्त ऊर्जा, समस्त इच्छा, समस्त अभीप्सा केवल भगवान् की ओर और हमारी चेतना में उनके सर्वांगीण रूप से चरितार्थ होने की ओर मुड़ी रहे।

९. हम प्रकृति के जिस दिव्यीकरण की बात करते हैं वह है रूपान्तर का, केवल किसी तरह की परम मानवजाति के विकास की बात नहीं है बल्कि यह हमारी अज्ञानमयी प्रकृति के मिथ्यात्व में से भागवत प्रकृति के सत्य में परिवर्तन की बात है।

१०. सच्ची आध्यात्मिकता जीवन का रूपान्तर कर देती है।

११. विशाल मन, उदार हृदय, अटल इच्छा-शक्ति, शान्त, स्थिर निश्चय, अथक शक्ति और अपने कार्य में पूर्ण विश्वास—ये हैं वे गुण जिन्हें पाने का प्रयत्न प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिये।

१२. अपने जीवन को उपयोगी बनाओ।

अपने जीवन को सत्य की निरन्तर खोज बना दो और वह जीने-योग्य होगा। अपनी उच्चतम अभीप्सा को तुम अपने जीवन को व्यवस्थित करने दो।

१३. मेरा हृदय शान्त है, मेरा मन अधीरता से मुक्त है और सब बातों में एक बालक के मुस्कुराते विश्वास के साथ मैं तेरी इच्छा पर निर्भर रहता हूँ।

१४. मेरे प्रभु, मुझे सब घमण्डों से मुक्त कर; मुझे नम्र और सहृदय बना। हे प्रभु, मुझे भय और चिन्ता से मुक्त कर ताकि मैं अपनी सर्वाधिक क्षमता से तेरी सेवा कर सकूँ।

१५. प्रसन्नता अन्तरात्मा की सन्तुष्टि के कारण आती है, प्राण या शरीर

की सन्तुष्टि के कारण नहीं। प्राण कभी सन्तुष्ट नहीं होता; शरीर भी जो कुछ आसानी से या सदा मिलता है उससे आकर्षित होना एकदम बन्द कर देता है। एकमात्र चैत्य पुरुष ही सच्ची प्रसन्नता और आनन्द लाता है।

१६. अपने हृदय से अहं की छाप मिटा दो और उसका स्थान माताजी के लिए प्रेम को लेने दो। व्यक्तिगत विचारों और निर्णयों के प्रति होने वाले समस्त आग्रह को अपने मन से निकाल फेंको, तभी माँ को समझने-योग्य ज्ञान तुम्हें प्राप्त होगा। *श्रीअरविन्द*

१७. सभी रायें उस 'सत्य' का पहलू हैं जिसके पास तभी पहुँचा जा सकता है जब तुम इन सब पहलुओं को लेकर एक व्यापक समग्रता बना सको।

१८. मन को यह सिखाना चाहिये कि वह केवल भगवान् के आदेशों को ही अभिव्यक्त करे।

१९. जब मन भगवान् की ओर मुड़ता है तो वह शक्तिशाली यन्त्र बन जाता है।

२०. यह सच है कि मनुष्य तत्त्वतः दिव्य है, लेकिन वर्तमान अवस्था में कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर मनुष्य उस भगवान् के बारे में एकदम निश्चेतन होता है जिसे वह अपने अन्दर लिये रहता है; और यही निश्चेतना जड़-जगत् के मिथ्यात्व का निर्माण करती है।

२१. हमारी कृतज्ञता भगवान् के प्रति जानी चाहिये, रही बात मनुष्यों की, तो वहाँ जिसकी ज़रूरत है वह है सद्भावना, समझ और परस्पर सहायता की वृत्ति।

२२. सुखी और शान्त होने का सबसे अच्छा उपाय है, भगवान् के प्रति गहराई में, तीव्रता के साथ सतत कृतज्ञता का अनुभव करना। और भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है उनके साथ तदात्म हो जाना।

२३. वास्तव में जगत् में हर चीज़ सन्तुलन और असन्तुलन, सामञ्जस्य और अव्यवस्था का प्रश्न होती है। सामञ्जस्य के स्पन्दन सामञ्जस्यपूर्ण घटनाओं को निमन्त्रण देते और प्रोत्साहित करते हैं; असन्तुलन के स्पन्दन परिस्थितियों में असन्तुलन (रोग, दुर्घटना आदि) पैदा करते

हैं। यह व्यक्तिगत भी हो सकता है और सामुदायिक भी, लेकिन सिद्धान्त एक ही है और उपचार भी एक: अपने अन्दर भागवत इच्छा के प्रति अबाध रूप में समर्पण द्वारा व्यवस्था, शान्ति और सन्तुलन बढ़ाते चलो।

२४. क्रोध प्राण पर लगे किसी अप्रिय आघात के प्रति उसकी उग्र प्रतिक्रिया है और जब उसमें शब्दों और विचारों का भी समावेश हो जाता है तो मन प्राण के प्रभाव को प्रत्युत्तर देता और उग्रता के साथ प्रतिक्रिया करता है। क्रोध की कोई भी अभिव्यक्ति आत्म-संयम के अभाव का चिह्न है।

२५. चरित्र बदल सकता है और बदलना चाहिये, लेकिन यह एक लम्बा और बारीक़ काम है जिसमें स्थायी प्रयास और बहुत सच्चाई की ज़रूरत है।

२६. सभी कर्म अपने-आपमें अच्छे फल और अपने परिणाम लिये रहते हैं। अपने स्वभाव के अनुसार कर्म तुम्हें भगवान् के निकटतर लाता या उनसे दूर ले जाता है—और यही परम परिणाम होता है।

२७. विचार की सुदूर वाणी सुनने के लिए कितनी अधिक नीरवता की ज़रूरत होती है। बाहरी, भ्रामक और क्षणिक नीरवता नहीं, बल्कि इसके विपरीत, सच्ची, गहरी, समग्र और स्थायी नीरवता।

२८. जो सत्य में प्रगति करता है वह भूल से कष्ट नहीं पाता, क्योंकि वह जानता है कि भूल सत्य की ओर जीवन का पहला प्रयास है।

२९. जैसे हमें औरों के साथ दयालु और उदार होना चाहिये, ठीक उसी तरह अपने साथ कठोर और निर्मम होना चाहिये, क्योंकि हम अन्धकार में प्रकाश, रात में मशाल बनना चाहते हैं।

३०. हम कल्पना नहीं कर सकते कि हम बुरे विचारों, घृणा, प्रतिशोध, ईर्ष्या, द्वेष, दुर्भावनापूर्ण विचार, कठोर निन्दा, कट्टरताभरे मूल्यांकन को अपने से बाहर भेज कर या अपने-आप ग्रहण करके कितना नुक़सान करते हैं।

३१. शत्रु अपने शत्रु के विरुद्ध चाहे कुछ क्यों न करे, घृणा करने वाला घृणा करने वाले के प्रति चाहे कुछ क्यों न करे, ग़लत रास्ते पर भेजा गया एक भी विचार उससे भी बढ़ कर हानि पहुँचाता है।

भगवद्गीता के विषय में

क्या आप मुझे गीता का बहुत स्पष्ट परन्तु संक्षिप्त परिचय दे सकते हैं? साधारण मनुष्य उसकी नीति से क्या समझ सकता है, उसका भाव क्या है और आपके ख़याल से उसका प्रयोजन क्या है?

नवजात—अन्य बहुत-से महान् ग्रन्थों की तरह *गीता* को भी बहुत ग़लत अर्थों में समझा गया है। लोग दूसरे अध्याय से दो-चार वाक्य लेकर उन्हें ही *गीता* की पूरी शिक्षा मान लेते हैं। मैंने बहुत बार लोगों को देखा है कि वे *'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'*—कर्म पर ही तुम्हारा अधिकार है, फल या परिणाम पर नहीं, यानी निष्काम कर्म को ही *गीता* की पूरी शिक्षा मान लेते हैं। लेकिन बात ऐसी नहीं है।

मेरी दृष्टि में *गीता* का सारांश यह है कि कृष्ण के मित्र अर्जुन कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि वे युद्ध में उनकी सहायता करें, यद्यपि कृष्ण पहले ही कह चुके थे कि न तो वे लड़ाई करेंगे न शस्त्र धारण करेंगे। कृष्ण अर्जुन के सामने विकल्प रखते हैं कि या तो तुम मेरी पूरी सेना ले लो या मुझे निःशस्त्र रूप में स्वीकार करो। अर्जुन निःशस्त्र कृष्ण को स्वीकार करते हैं। मेरी दृष्टि में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। कृष्ण अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार कर लेते हैं। इसका अर्थ तो यही है कि कृष्ण अर्जुन के पथ-प्रदर्शक और युद्ध के नेता होंगे।

अर्जुन, भीम और युधिष्ठिर सबने अलग-अलग कारणों से युद्ध में भाग लेना स्वीकार किया था। पहली चीज़ तो यह कि वे क्षत्रिय थे और उनके साथ घोर अन्याय किया गया था जिसे वे सह न सकते थे। कौरवों ने उनके राज्य को हड़प लिया था और वे ऐसे अन्याय के आगे न झुक सकते थे। और फिर कौरवों ने उनकी रानी द्रौपदी का बहुत अपमान किया था, पाण्डवों ने उसका बदला लेने की शपथ ली, उनके लिए अपने कथन का पालन करना ज़रूरी था। उन्होंने शान्ति के सभी उपाय अपना लिये। अपने राज्य की जगह केवल पाँच गाँवों पर समझौता करना चाहा पर

उनकी वह बात भी न मानी गयी और उन्हें चुनौती दी गयी जिसे क्षत्रिय होने के नाते वे टाल न सकते थे।

अतः वे रणक्षेत्र में अपने-आपको पूरी तरह धर्म-परायण मानते हुए आये। उन्हें विश्वास था कि वे ठीक मार्ग पर थे और उन्हें मालूम था कि उन्हें क्या करना चाहिये और वे बिलकुल ठीक कर रहे थे, कि युद्ध उस काल के धर्म के अनुसार था और उनके शुभ और अशुभ के विचारों के अनुकूल था।

अब आती है निर्णायक स्थिति जब अर्जुन कृष्ण से कहते हैं, "मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले चलिये ताकि मैं देख सकूँ कि किन-किन की मृत्यु मेरे हाथों बदी है।" श्रीकृष्ण रथ को ले जाकर दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर देते हैं। अर्जुन अपने पितामह भीष्म को, जिन्होंने उन्हें गोद में खिलाया था, इतना प्रेम दिया था, अपने विरोधी सेनापति के रूप में देखते हैं, अपने धनुर्विद्या के गुरु द्रोण को उप-सेनापति और अपने मामा शल्य को अपने विरोध में देखते हैं; जब वे देखते हैं कि उनके बहुत-से नातेदार-रिश्तेदार, जिनके साथ उनको प्रेम है और जो उनसे प्रेम करते हैं, उनमें से बहुत-से अपनी इच्छा के विरुद्ध या उत्तरदायित्व की भावना से विरोधी-दल से जुड़े हुए हैं तो अर्जुन बहुत निराश हो जाते हैं, वे देखते हैं कि इस लड़ाई में बड़ा ख़ून-ख़राबा होगा, चाहे जो भी जीते, नर-हत्या तो बेतहाशा होगी। जो नारियाँ विधवा हो जायेंगी वे पथभ्रष्ट हो जायेंगी और तब उनसे उत्पन्न बालक अवैध होंगे और वे पुरखों को पिण्डदान तक न दे सकेंगे और पूर्वजों को स्वर्ग-प्राप्ति न होगी। अर्जुन ने यह भी सोचा कि ऐसे हत्याकाण्ड के बाद, अपने पितामह और गुरु की हत्या करने के बाद अगर राज्य भी प्राप्त कर लिया तो उसका क्या उपयोग होगा? तो जीवन के बारे में, नीति के बारे में अर्जुन की दृष्टि ही बदल जाती है।

अर्जुन सात्त्विक-राजसिक पुरुष, सर्वोत्तम पुरुष, सबसे अधिक नीतिवान पुरुष, सबसे अधिक साहसी पुरुष, सत्य की दृष्टि से मन जितना ऊँचा उठ सकता है उतने अधिक ऊँचे उठे हुए पुरुष हैं। अब उनके विचार डिग गये हैं। उनके शुभ और अशुभ के पुराने विचार असफल हो गये हैं। अब उन्हें दो ही विकल्प दिखायी देते हैं—या तो वे कौरवों की हत्या करके रक्त-रञ्जित सिंहासन स्वीकार करें या कौरव उनका अन्त कर दें। वे कहते

हैं, "मुझे रक्त-रञ्जित सिंहासन नहीं चाहिये, वे मुझे मार दें या मैं संन्यास ले लूँ। मैं कुछ भी कर सकता हूँ पर अपने ही लोगों को मार-काट कर राज्य नहीं ले सकता। इसका अर्थ ही क्या है? आध्यात्मिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से यह ग़लत है।" वे युद्ध न करने के लिए कृष्ण के आगे बहुत-सी युक्तियाँ रखते हैं और दुविधा में पड़े हुए हैं।

यह अवस्था केवल अर्जुन की ही नहीं, हर उस मनुष्य की होती है जो जीवन की ऐसी स्थिति में आता है जहाँ जीवन के बारे में उसकी अपनी वृत्ति हिल जाती है। ऐसी अवस्था में अर्जुन क्या कहते हैं? वे कहते हैं, "मैं सकपका गया हूँ।" यद्यपि कृष्ण उनके मित्र हैं पर वे पहली बार कृष्ण से कहते हैं, "मैं आपका शिष्य हूँ।" वे यह नहीं कहते कि "मैं आपका मित्र हूँ, मेरी सहायता कीजिये।" वे कहते हैं, "मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी शरण में आया हूँ, केवल आप ही मेरा पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं, मैं सचमुच नहीं जानता कि मुझे क्या करना चाहिये।"

कृष्ण अर्जुन को बहुत-से कारण बताते हैं कि उसे क्यों लड़ना चाहिये, अर्जुन उत्तर-प्रत्युत्तर करते हैं। अर्जुन उत्तरों से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं होते क्योंकि वे परम सत्य को प्रकट नहीं करते। अन्ततः ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाते हैं। अर्जुन पहली बार अनुभव करते हैं कि उनके सारथी साक्षात् प्रभु हैं। वे कहते हैं :

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्, हे कृष्ण, हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदम्, मया प्रमादात् प्रणयेन वापि।।

—हँसी-हँसी में, सखा मान कर, प्रमाद और अज्ञानवश मैंने तुम्हें मित्र, कृष्ण, यादव, पता नहीं किस-किस नाम से पुकारा, मुझे क्षमा कर दो।

पहली बार अर्जुन अनुभव करते हैं कि परम प्रभु ही उनके मित्र बने हुए थे।

ग्यारहवें अध्याय के बाद अर्जुन के प्रश्नोत्तर और ही रूप धारण कर लेते हैं। अब वे तर्क नहीं करते, ज़्यादा ग्रहणशील हो जाते हैं। वे अनुभूति चाहते हैं और अन्त में इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उन्हें जिस चीज़ की ज़रूरत है वह निष्काम कर्म नहीं, कर्मयोग है। जब कृष्ण पूछते हैं, "क्या तुम्हारी अस्त-व्यस्तता चली गयी?" तो अर्जुन कहते हैं, "हाँ, मेरी अस्त-व्यस्तता

चली गयी।" और इसके बाद वे कृष्ण से कहते हैं—*'त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'*—हे हृषीकेश, मेरे हृदय में विराजमान, तुम मुझे जिस तरह नियुक्त करोगे उसी तरह मैं क्रिया करूँगा।

यही *गीता* की शिक्षा का पूर्ण रूप है। शुरू में अर्जुन अपने सखा से कहते हैं, "शिष्यस्तेऽहम्"—मैं तुम्हारा शिष्य हूँ—और अन्त में जब सारी अस्त-व्यस्तता चली जाती है तो वे कहते हैं, *"यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"*—जिस भाँति नियुक्त करोगे उसी भाँति करूँगा—दोनों स्थितियों का उत्तर एक ही है, लेकिन पहली स्थिति में उत्तर सामने खड़े हुए कृष्ण को दिया गया है और दूसरी अवस्था में हृदय में स्थित कृष्ण को। अर्जुन कहते हैं—"आप सारे समय मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिये, छोटी-बड़ी सभी बातों में रास्ता दिखलाइये। मैं और किसी कारण से नहीं लड़ रहा, केवल आपके आदेश के अनुसार चल रहा हूँ, युद्ध के और सब कारण जा चुके हैं।"

सतत पथ-प्रदर्शन कैसे पाया जा सकता है?

नवजात—इसके लिए *गीता* की बतायी हुई शर्तें पूरी करनी होंगी। एक है समता, दूसरी है निष्काम भावना।

(क्रमशः)

—नवजातजी

मुरली

मुरली बाजि रही मधुबन में,
एक गूँज गूँजी आत्मा में, द्वार खुले कञ्चन के,
नाच रही राधा-छवि, देखा रूप-रंग नन्दन में।
एक गूँज गूँजी मानस में, द्वार खुले चन्दन के,
हुई सकल साकार कल्पना जीवन के प्रांगण में।
एक गूँज गूँजी अन्तर में, द्वार खुले चाँदी के।
आनन्द बरसा, मची खलबली अरे मर्त्य-क्रन्दन में।
एक गूँज गूँजी काया में, द्वार खुले लोहे के,
कठिन परत टूटी जड़ता की, मधु उमगा जीवन में।

—स्व. विद्यावती कोकिल

शाश्वत ज्योति

(८)

हम आश्रम की वरिष्ठ साधिका चित्रा सेन–हमारी प्रिय चित्रा दी–की डायरी में अंकित श्रीमाँ की बातचीत बीच-बीच में दे रहे हैं। स्वयं चित्रा दी के शब्दों में सुनिये–

'इस वार्तालाप में माताजी की अधिकांश बातें मेरी डायरी से हैं। हम उनके साथ जो भी बातचीत करते थे, उन्हें यथासम्भव ईमानदारी से लिख लेते थे। यह वार्तालाप माँ के द्वारा न तो देखा गया है और न ही सुधारा।'

अब मैं आपको जन्मदिन के बारे में कुछ बताऊँगी। आप सभी जानते हैं कि माँ ने जन्मदिन को कितना महत्त्व दिया है। उस दिन के लिए युवा और वयस्क, हर एक माँ के लिए कोई-न-कोई चीज़ तैयार करता था। फिर वह वस्तु निर्दिष्ट विभाग में चली जाती थी। जैसे, कशीदाकारी, पेंटिंग, बढ़ईगिरी इत्यादि चीज़ें। मैं लकड़ियों से चीज़ें बनाती थी। एक युवा लड़की (मुश्किल से उस समय वह १० साल की होगी) ने मुझसे कहा, "आप जानती हैं चित्रा-दी, मैं अपने जन्मदिन के लिए माँ के पास क्या ले जा रही हूँ?" मैंने पूछा, "क्या? तुमने कुछ बनाया है?" उसने जवाब दिया, "मैंने कुछ कविताएँ लिखी हैं! मैं उन्हें अच्छी तरह लिख रही हूँ ताकि अपने जन्मदिन पर माँ को दे सकूँ।" जिसके पास जो सर्वोत्तम होता उसे वह उनके लिए तैयार करके उन्हें भेंट चढ़ाता।

मैं १९४० में, १२ साल की उम्र में माँ के पास आयी थी। दो महीने बाद मेरा जन्मदिन था। मुझे अपने तेरहवें जन्मदिन पर उनके पास जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे हर एक को फूलों का एक ख़ूबसूरत गुलदस्ता देती थीं। बाद में जब २६ साल की उम्र में मैं अपने जन्मदिन पर उनके पास गयी तो उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे फूल दिये। अचानक उन्होंने मुझसे पूछा, "मैं सबसे पहले तुमसे कब मिली थी?" मैं एकदम से सकते में आ गयी, कुछ बोल न पायी। मैंने अपना दूसरा हाथ (एक हाथ उन्होंने पकड़ कर रखा था) अपने पीछे ले लिया और वर्षों की गिनती शुरू कर दी। इससे पहले कि मैं कुछ कह पाती, उन्होंने कहा, "तुम्हारा

पहला जन्मदिन मेरे साथ तब था जब तुम १३ साल की थीं। अब तुम २६ साल की हो गयी हो। इसका मतलब यह कि तुम अपने जीवन का आधा हिस्सा मेरे साथ गुज़ार चुकी हो।" और यह केवल माँ ही हैं जो हममें से हर एक के बारे में इन सभी बातों को याद रख सकती हैं।

एक और मज़ेदार क़िस्से के साथ मैं अपनी बात समाप्त करूँगी। एक दिन वितरण के दौरान मैंने माँ की आँखों में आँसू देखे। तब उन्होंने मुझसे जो कहा था उसके कुछ वाक्य मैं देना चाहूँगी—"यह व्यक्ति पर निर्भर करता है, जब मैं आशीर्वाद के लिए नीचे आती हूँ तो सामान्यतः यह महासरस्वती का पहलू होता है जो लोगों के साथ व्यवहार करता है, प्रत्येक वस्तु को और प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने स्थान पर रखता है। कभी-कभी अन्य देवियाँ भी आती हैं।" उन्होंने कहा था—"उस दिन उदासी से भरी जो आँखें तुमने देखीं वे महालक्ष्मी की थीं। जब चीज़ें बदसूरत होती हैं तो उन्हें चोट पहुँचती है, ख़ासकर जब अविश्वास, कपट होते हैं तब वे दया से भर जाती हैं। दुनिया कितनी सुन्दर और ख़ुशहाल हो सकती है और आदमी ने इसे क्या बना कर रख दिया है!"

माँ ने यह भी कहा था कि काली को बुलाना अच्छा नहीं है। वे ऐसी कोई चीज़ सहन नहीं कर सकतीं जो बदलना नहीं चाहती, और वे प्रहार करती हैं। आमतौर पर जब महाकाली माँ के पास आतीं तथा वितरण के समय रहना चाहतीं तो माँ उन्हें एक तरफ़ कर देतीं। मुझे लगता है, हमारी कमज़ोर मानवता के लिए वे बहुत अधिक हैं! माँ ने बतलाया था कि महासरस्वती अधिकतर बच्चों के साथ होती हैं। और जो उनको सबसे ज़्यादा पसन्द है वह है, निष्कपटता और ईमानदारी। यह है, व्यक्ति में स्पष्टवादिता। पूर्णता की ओर किया गया हर प्रयास उनको पसन्द है। यही उनको सबसे ज़्यादा पसन्द है। वे हमेशा मनुष्यों को प्रगति, अधिकाधिक प्रगति के लिए प्रोत्साहित करती हैं।

चलो, इसे ही हम अपना कार्यक्रम बनायें : 'प्रगति, अधिकाधिक प्रगति।'

(समाप्त) अनु. वीणा

भगवान् के साथ मैत्री : कोमल, एकाग्र और निष्ठापूर्ण, हलकी-सी पुकार पर उत्तर देने के लिए सदा तत्पर। श्रीमाँ

माँ का प्रेम

तुम श्रीमाँ के बालक हो और अपने बच्चों के लिए माँ का प्रेम असीम होता है और वे उनके स्वभाव के दोषों को धीरज के साथ सहती हैं। माँ का सच्चा बालक बनने की कोशिश करो: यह क्षमता तुम्हारे अन्दर है, लेकिन तुम्हारा बाहरी मन छोटी-छोटी तुच्छ चीज़ों में रमा रहता है और बहुधा इन नगण्य चीज़ों को लेकर बात का बतंगड़ बना लेता है।

तुम्हें श्रीमाँ को न केवल सपने में देखना चाहिये बल्कि सारे समय उन्हें अपने सामने और अपने अन्दर देखना तथा अनुभव करना सीखना चाहिये। तब तुम्हें अपने-आपको संयम में रखना और परिवर्तित करना सरल प्रतीत होगा, क्योंकि, चूँकि वे वहाँ उपस्थित हैं इसलिए वे तुम्हारे लिए सब सम्पन्न कर देंगी।

श्रीअरविन्द

सुनहरी लड़ी

श्रीमाँ ने बहुत बार, बहुत बार कहा है: "जो कोई मेरा स्पर्श पाता है, जिस किसी के अन्दर सच्ची अभीप्सा का पल-मात्र भी होता है, मेरे लिए सच्चा प्रेम होता है, वह इस जीवन में पार लग गया, सभी जीवनों के लिए तर गया—वह मेरे साथ बँध गया, मैंने उसके गले में एक सुनहरी लड़ी पहना दी, उसका हृदय शाश्वत काल के लिए मेरे साथ जुड़ गया।"

यह ऐसी चीज़ है जिसे कोई देख नहीं सकता, तुम अपने-आप यह नहीं देख सकते; लेकिन यह एक तथ्य है, वह वहाँ है। वह सुनहरी लड़ी तुम्हारे हृदय में है। तुम जहाँ कहीं जाओ उसे अपने साथ लिये चलते हो, ... वह 'एलास्टिक की चेन' है, वह लम्बी होती जाती है, लेकिन कभी टूटती नहीं। कठिनाई के समय, अपने जीवन में शंका और भ्रम के क्षणों में, तुम्हें सहारा देने के लिए वह तुम्हारे साथ है। अगर तुम उसके प्रति सचेतन हो जाओ तो बहुत ही अच्छा है; अगर तुम सचेतन नहीं हो तो यह विश्वास रखो कि वह वहाँ है। श्रीमाँ का प्रेम, 'उनकी उपस्थिति' **हमेशा** रहती है।

—नलिनीकान्त गुप्त

श्रीअरविन्द का एक पत्र

वे सब कठिनाइयाँ जिनका तुमने वर्णन किया है बिलकुल स्वाभाविक हैं और अधिकतर लोगों में ये आम हैं। व्यक्ति जब ध्यान में शान्त हो कर बैठता है तो स्मरण करना और सचेतन रहना अपेक्षया आसान होता है, पर जब उसे काम में जूझना पड़ता है तो ऐसा करना कठिन हो जाता है। कर्म में स्मरण और सचेतनता धीरे-धीरे करके ही आते हैं। इन्हें सहसा प्राप्त कर लेने की आशा तुम्हें नहीं करनी चाहिये। कोई भी व्यक्ति इन्हें एकाएक नहीं पा सकता। इन्हें दो तरीक़ों से पाया जा सकता है, पहला: यदि व्यक्ति माँ को स्मरण करने का अभ्यास करे और हर बार जब कुछ करे तो उसे माँ को अर्पित करता रहे (करते हुए सब समय नहीं, बल्कि शुरू में या जब भी वह याद कर सके) तो धीरे-धीरे प्रकृति के लिए यह आसान हो जाता है और यह उसकी आदत-सी बन जाती है। दूसरा: ध्यान के द्वारा आन्तरिक चेतना विकसित होने लगती है जो, कुछ समय बाद—तुरत या एकाएक नहीं—स्वतः ही अधिकाधिक पक्की होती जाती है। व्यक्ति ऐसा महसूस करता है कि काम करने वाली बाह्य चेतना से जैसे यह एक पृथक् चेतना हो। पहले-पहल यह पृथक् चेतना काम करते समय अनुभव नहीं होती, परन्तु ज्यों ही काम थमता है तो व्यक्ति को लगता है कि यह सारे समय वहाँ थी और पीछे हट कर देख रही थी। बाद में, स्वयं काम में भी यह महसूस होने लगती है। लगता है मानों अपने ही दो भाग हों, एक तो वह जो पीछे रह कर देखता और सहारा देता है, माँ का स्मरण करता और उन्हें अर्पित करता है, और दूसरा वह जो काम करता है। जब ऐसा हो जाता है तब सत्य-चेतना से काम करना अधिकाधिक आसान होता जाता है।

बाक़ी सब चीज़ों के लिए भी ऐसी ही बात है। आन्तरिक चेतना के विकास के साथ-साथ, वे सब चीज़ें जिनकी तुम चर्चा कर रहे हो, ठीक हो जायेंगी। उदाहरणार्थ, सत्ता का एक भाग है जिसमें काम के लिए उत्साह है, दूसरा भाग है जो शान्ति का दबाव महसूस कर रहा है, उसमें काम के प्रति वैसा रुजहान नहीं है। तुम्हारी अन्तःस्थिति इस पर निर्भर करेगी कि कौन-सा भाग ऊपर है। सबके साथ ऐसा ही है। दोनों में सामञ्जस्य

लाना कठिन है। पर एक समय आता है जब उनमें संगति निश्चित ही बैठ जाती है। एक भाग आन्तरिक एकाग्रता में स्थित रहता है, जब कि दूसरा उससे सहारा पा अधिक उत्साह के साथ काम में लग जाता है। प्रकृति का रूपान्तर, सत्ता में विद्यमान इन विसंगत चीज़ों में संगति बिठाना—यह है साधना से साधित होने वाला काम। इसलिए अपने अन्दर इन चीज़ों को देख कर तुम्हें निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। शायद ही कोई ऐसा हो जो अपने अन्दर ये चीज़ें न पाता हो। ये सब चीज़ें ठीक मेल में बिठायी तो जा सकती हैं, पर आन्तरिक 'शक्ति' के द्वारा ही, बशर्ते साधक की सतत स्वीकृति और पुकार रहे। अपने-आपमें वह इस काम को न कर पायेगा, परन्तु अपने अन्दर कार्यरत भागवत शक्ति के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है।

प्रसन्न रहो

सबसे बड़ी समस्या यह है कि भगवान् को कैसे पाया जाये और उनके साथ कैसे एक हुआ जाये। इसमें उपाय का महत्त्व नहीं है, महत्त्वपूर्ण है भगवान् को पाना। एक तरीक़ा है अन्दर जाने का और दूसरा तरीक़ा है ऊपर उठ कर भागवत शान्ति को पाने का। सबसे अच्छी बात तो यह है कि हम दोनों के लिए अभीप्सा करें और प्रकृति की आवश्यकता के अनुसार श्रीमाँ को ही फैसला करने दें।

एक दिन अत्यधिक निराशा और निरुत्साह से भर कर, बड़े ही नाटकीय भाव के साथ किसी ने माताजी को लिखा कि मैं अपना शरीर छोड़ना चाहता हूँ ताकि अगले शरीर में आपके ज़्यादा नज़दीक रह सकूँ। उत्तर में माताजी कहती हैं, "यह शरीर छोड़ने की बात निरी मूर्खता है और बहुत बड़ी भूल है। हो सकता है कि मृत्यु के बाद जो नया शरीर मिले वह पहले से ज़्यादा ख़राब हो। हमें अगले जन्म की चिन्ता न करनी चाहिये बल्कि अन्तिम श्वास तक अपने वर्तमान शरीर को सुधारने और उसकी सभी सम्भावनाओं को चरितार्थ करने की कोशिश करनी चाहिये।" हमें हमेशा यह याद रखना चाहिये कि जब तक साँस तब तक आस।

श्रीअरविन्द ने किसी को लिखा था, "कठिनाइयों का सामना करने की जगह अगर व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन को क्रोध या उग्रता के मारे छोड़

दे तो अगला जीवन ज़्यादा अच्छा होने की जगह ज़्यादा ख़राब हो जाता है। इस तरह की भावनाओं को पोसने की जगह माताजी की कृपा की ओर मुड़ो जो कभी किसी को निराश नहीं करती और तुम्हें भी असफल न करेगी।"

अगर हम प्राचीन साधु-सन्तों के जीवन पर नज़र डालें तो वहाँ भी बहुत-से स्थलों पर निराशा और असफलता की यही कहानी दिखायी देगी, उनकी चिल्ल-पों सुनायी देगी और भगवान् की ओर से डाँट-फटकार और उसके बाद कृपा की वर्षा दिखायी देगी। कई बार भक्त रोदन ठान लेते हैं कि भगवान् का सामीप्य नहीं प्राप्त हो रहा, उनके दर्शन का लाभ नहीं मिल रहा, फिर इस जीवन से लाभ ही क्या? ऐसी मूढ़ता-भरी बातों पर भी माताजी मरहम लगाते हुए कहती हैं, "अपने अन्दर पैठो और तुम वहाँ अपने चैत्य पुरुष को पाओगे और साथ ही देखोगे कि वहाँ तुम्हारे जीवन का जीवन, तुम्हारे प्राणों का प्राण बहुत निकट तथा ठोस रूप में उपस्थित है।"

माताजी चाहे जितने आश्वासन दें परन्तु व्यक्ति का मन स्थिर नहीं होता। सन्देह श्रद्धा के साथ और भय आत्म-विश्वास के साथ झगड़ता रहता है। माताजी कहती हैं कि उन्हें सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि लोग सोचते हैं कि वे मेरे कर्मों के कारण को जान सकते हैं! "मैं हर एक के साथ, हर परिस्थिति में, हर आवश्यकता के अनुसार अलग-अलग क्रिया करती हूँ।" साधक को सबसे पहले भय के भार को उतार फेंकना चाहिये और माताजी के प्रति स्पष्टवादिता और सच्चाई पैदा करनी चाहिये। इतने से ही माताजी और उसके बीच की दूरी ग़ायब हो जायेगी।

जैसे ही एक कुहरा छँट जाता है, दूसरा आकर उसका स्थान भर देता है। एक तरह के सन्देह चले जाते हैं कि दूसरे सन्देह आ धमकते हैं। ग़लत लगाव, उदासीनता, रिक्तता, शुष्कता, चिड़चिड़ापन आकर साधक और भगवान् के बीच में जम जाते हैं। माताजी ने कहा है कि उदास या दुःखी होना कोई गुण नहीं है। श्रीअरविन्द कहते हैं, "प्रसन्नता साधना का नमक है, वह निराशा से हज़ार गुना अच्छी है।" माताजी किसी साधक से कहती हैं, "भगवान् दुःखी नहीं हैं, भगवान् को पाने के लिए तुम्हें समस्त दुःख और समस्त भावात्मक दुर्बलता को निकाल फेंकना चाहिये। याद रखो, चैत्य प्रेम हमेशा शान्त और प्रसन्नचित्त होता है। प्राण ही बिना कारण, अपने-आपको नाटकीय बनाता और दुःखी रखता है।" —स्व. रवीन्द्रजी

वह जो साथ है

गाँव की पगडण्डी पर बैठी
मेरी छोटी-छोटी आँखें ताक रही थीं
कभी विराट् आसमान तो कभी
दूर-दूर तक फैली वसुन्धरा को
जिसका कोई अन्त नहीं था।
सोच रहा था
कितनी बड़ी दुनिया है
सोच ही नहीं सकता
फिर क्यों सोच रहा हूँ?
इस दुनिया में दौड़ लगा
पा लूँ अपना लक्ष्य—मंज़िल—अकेले ही।
सचमुच बहुत दुर्लभ है यह
सोच घबरा जाता हूँ।
तभी दूर-दूर सुदूर नभ में
वह मुस्काया...
अनायास ग़ायब हो गयीं मेरी सारी
निराशाएँ, कुण्ठाएँ
सोच रहा था
अकेला क्यों? वह जो साथ है...
यही सोच दे रही थी
अजीब ऊर्जा, ताक़त
और मैं उसे समेटने लग जाता हूँ अपने
कर्म, श्रम, साधना में
निष्ठा, आत्मविश्वास लिये
सदैव उसे अपने संग
मुस्काते, साथ देते—
जिसे तुम 'ईश्वर' कहते हो।

'अग्निशिखा' दिसम्बर २०१३ से —डॉ. रामशंकर चञ्चल

भक्तिपूर्वक झुक कर...

अपूर्व कथाओं के भण्डार से निकली इस मर्मस्पर्शी कहानी के रचयिता हैं श्री वासुदेव आठवले—

वह दार्शनिक था। सेवानिवृत्त हो, अपनी जन्मभूमि, एक छोटे-से गाँव में आकर बस गया। पत्नी के सिवाय कुटुम्ब में और कोई न था। तीन सन्तान बचपन में ही भगवान् को प्यारी हो गयीं। विधि का विधान मान कर किसी तरह इस दारुण दुःख का तूफ़ान भी झेल लिया माँ-बाप ने और समय के प्रवाह ने भी उसे बहुत कुछ धो डाला। अपने में सन्तुष्ट अब दोनों गाँव में सुन्दर, सरल जीवन बिता रहे थे। पति अक्षरशः दार्शनिक था। अपने जीवन के सन्ध्याकाल में वह विश्व की उत्पत्ति के विषय में शोधकार्य में रत था। अपनी ऐकान्तिक साधना के लिए उसने गाँव की हलचल से कुछ दूर, शान्त नदी के किनारे एक छोटी-सी कुटिया रच ली थी, वहीं अपने लेखन-मनन-चिन्तन में जुटा रहता। सचमुच खाने और सोने के अलावा उसका सारा समय कुटी में ही बीतता। पत्नी सरला भी पूरा-पूरा सहयोग दिया करती तभी तो पति का कार्य निर्विघ्न चलता। मधुरभाषी, सुशीला, सचमुच उत्तमा पत्नी थी वह। शिकायत का एक बोल कभी उसकी ज़बान पर न आता, उसे तो अपने पति पर बड़ा गर्व था, वह सोचा करती—"मेरे आराध्य मानवता की भलाई की आराधना में लगे हैं, कितनी भाग्यशाली हूँ मैं।" हाँ, कभी-कभी सन्तान का अभाव उसे ज़रूर खटकता लेकिन घर में पाले हुए पशु-पक्षियों के कलरव और गुञ्जन में वह क्षणिक दुःख भी डूब कर दम तोड़ लेता। सरला प्रसन्नचित्त रह कर मन-ही-मन गुना करती—"जिस दिन मेरे स्वामी अपना शोधकार्य पूरा कर लेंगे मानवता को सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अमूल्य निधि प्राप्त होगी। भारत माता अपने लाल को आशीर्वचनों से लाद देगी और उनकी यह भार्या उन्हें प्राप्त सम्मान से गौरवान्वित हो उठेगी!"

सर्दी का मौसम। खुले-खुले गाँवों में वैसे भी नगर की अपेक्षा शीत का प्रकोप ज़्यादा ही रहता है और इस साल तो ऐसा पाला पड़ रहा था कि रात को रखा पानी सवेरे तक बर्फ़ बन जाता था, ऊनी कपड़ों के साथ भी लिहाफ़ों में कँपकँपी छूटती थी। ऐसे मौसम में हमारे दार्शनिक सवेरे पाँच

बजे मुँह अँधेरे घर से निकल पड़ते, ठिठुरते-काँपते पहुँच जाते अपनी कुटिया में। देर रात घर लौटते क्योंकि अब उनका शोधग्रन्थ अन्तिम चरण पर पहुँच गया था। "जल्दी-से-जल्दी इसे पूरा कर लोकार्पण कर दूँगा।" इसी धुन में वे रात-दिन कार्य में जुटे रहते। पत्नी भी उस मंगल मुहूर्त की प्रतीक्षा अधीरता से कर रही थी।

उस दिन दोपहर को पति को वापस आया देख सरला अचम्भे में पड़ गयी। "इतनी जल्दी कैसे आ गये आज आप?" पूछने पर ख़ुशी से सराबोर पति ने पत्नी का हाथ दृढ़ता से थाम कर कहा—"प्रिये! आज महापर्व है। अभी थोड़ा-सा खाकर चला जाऊँगा। आज मेरी साधना सिद्धि को प्राप्त होगी। शोधग्रन्थ के उपसंहार का अन्तिम हिस्सा बचा है, उसे पूरा कर कल सवेरे तक तुम्हें समर्पित कर दूँगा, तुम जो मेरा मनोबल हो, जिसकी रात-दिन साधनामयी सेवा के बिना यह ग्रन्थ कभी पन्नों पर न उतरता।"

पति की ऐसी प्रीति देख, उनका ऐसा स्नेह पा, पत्नी यह न कह पायी कि प्रिय, ऐसे भयंकर मौसम में जब वर्षा का तूफ़ान थपेड़े मार रहा है, बच्चे, बूढ़े सभी अलाव के पास से क्षण-भर के लिए भी नहीं हट रहे, पशु-पक्षियों के साये तक नहीं दीख रहे, आप घर से मत निकलिये। इसके विपरीत उसने अपने-आपको यह कहते पाया—"नाथ! अपनी कृति के साथ जल्दी-से-जल्दी घर वापस आइये।"

ऐसे पति को पाकर सरला का रोम-रोम हर्ष से पुलकित हो उठा, मुखमण्डल तेज से दीप्त हो उठा।

कुटिया में जाकर दार्शनिक लालटेन जला कर काम में डूब गया। आज उसे उपसंहार के अन्तिम पृष्ठ लिखने थे। कुटीर के बाहर तूफ़ान की प्रचण्डता बढ़ती जा रही थी, प्रकृति रौद्र रूप धारण कर भयंकर अट्टहास कर रही थी और कुटीर के अन्दर बैठा मानव उसी अट्टहास के उपसंहार को लिखने में मग्न था। उसके अन्दर असीम शान्ति का पवित्र हास हिलोरें मार रहा था और उसी हास की एक धारा उसके क़लम की नोक से काग़ज़ पर उतरती चली जा रही थी। आज उसके यज्ञ की पूर्णाहुति थी।

उपसंहार के अन्त में 'इति' लिख कर, सन्तोष का पुतला दार्शनिक उठ खड़ा हुआ। घड़ी देखी—रात के साढ़े ग्यारह! "वाह, जल्दी से घर पहुँच कर नये दिवस के आगमन के साथ-साथ सरला के हाथों में यह

न्योछावर कर दूँगा।" इस विचार की हुलस से लदा हुआ, भयंकर तूफ़ान में भी ग्रन्थ को अपने सीने से चिपकाये वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ बाहर चल पड़ा, चल क्या पड़ा, दौड़ने लगा, और तभी उसका पैर किसी चीज़ से टकराया। झुक कर उसने वह पोटली-सी उठा ली और उठाते ही उसके शरीर में बिजली की सिहरन दौड़ पड़ी—वह तो नवजात शिशु था!! वर्षा की सतत बौछार, ठण्ड की निरन्तर मार से उसका शरीर नीला पड़ चुका था। दार्शनिक उसे अपने ओवरकोट में छिपाये उलटे पाँव कुटिया की ओर दौड़ा। ताला खोल कर अपने ग्रन्थ की पोटली को मेज़ पर फेंक, उसने शिशु को धीरे से मेज़ पर लिटाया, लालटेन जला अपने शरीर के सूखे कपड़ों को उतार-उतार कर वह उसे गरमाई देने लगा, लेकिन उस ठण्डे शरीर के लिए वह काफ़ी न था। शिशु की साँस धीमी होती जा रही थी। "हे प्रभो, इस नवजात की हृदय-बाती बुझने न पाये।" और तभी दार्शनिक के हृदय में एक शब्द गूँज उठा—'अग्नि'। वह मन-ही-मन बुड़बुड़ाया—"हाँ, हाँ अब तो आग की गरमाई ही इसमें जान ला सकती है, लेकिन कहाँ से लाऊँ आग? बाहर तो सूखी लकड़ी की एक फाँस तक न मिलेगी, लालटेन में मिट्टी का तेल भी नाममात्र को है, अब करूँ तो..." तभी दार्शनिक की आँखें चमक उठीं। कुटिया में पड़े टीन के डिब्बे को मेज़ पर रख, लालटेन से थोड़ा तेल निकाल उसने अपने शोधग्रन्थ के रद्दी काग़ज़ों के एक पुलिन्दे को उसमें डाल दिया, आग भड़क उठी, कमरे में धीरे-धीरे गरमाई फैलने लगी, लेकिन अभी भी शीतलता डेरा जमाये बैठी थी। देखते-न-देखते दार्शनिक के शोधग्रन्थ के पाँच मोटे-मोटे रजिस्टरों को छोड़ कर बाक़ी सारे पन्ने अग्नि को स्वाहा हो गये। शिशु की साँस कुछ ठीक हुई लेकिन उसे होश अभी तक न आया था। शरीर धड़क रहा था लेकिन फिर से धीमी पड़ती आग से कहीं इसका नीलापन लौट न आये इस विचार के आते ही दार्शनिक के रोंगटे खड़े हो गये।

कुटीर के बाहर प्रकृति का ताण्डव अनवरत चल रहा था। कुटीर के अन्दर प्रकृति के उपासक के हृदय में उससे भी भयंकर बवण्डर उठने लगा। कभी वह अपने जीवन के सार उस शोधग्रन्थ को देखता तो कभी ईश्वर के लघुरूप उस नवजात शिशु को। अचानक दार्शनिक के हृदय का झञ्झावात शीतल समीर में बदल गया। उसके अधर मन्द स्मित से अलंकृत हो उठे।

शोधग्रन्थ के पाँच रजिस्टरों में से एक उठा कर, उसमें से एक-एक पन्ना फाड़ कर वह होमकुण्ड में आहुतिदान करने लगा! जैसे-जैसे आग बढ़ती गयी वैसे-वैसे शिशु के शरीर का रंग बदलने लगा। चार रजिस्टर अग्नि को समर्पित हो गये। बालक ने क्षण-भर के लिए आँखें खोल कर फिर से मूँद लीं। दार्शनिक का जीवन-धन जैसे-जैसे घट रहा था शिशु का जीवन वैसे-वैसे अधिकाधिक धड़क रहा था। अन्तिम रजिस्टर का अन्तिम पृष्ठ अग्नि को समर्पित हुआ नहीं कि कुटिया में नवजात शिशु की क्रन्दन-ध्वनि की घण्टियाँ बज उठीं, दार्शनिक का हास गूँज उठा।

कहीं बाहर बारह के घण्टे की टकोरें बज उठीं—नूतन दिवस का आवाहन, नूतन जीवन का आगमन...।

किलकारी भरते हुए बालक को सीने में भींच दार्शनिक-पिता बिजली की तेज़ी से कुटिया से निकल पड़ा। तूफ़ान थम गया था, आकाश तारों से सज गया था!

प्रतीक्षा में उत्सुक पत्नी ने जैसे ही पति के पैरों की चाप सुनी, दौड़ कर दरवाज़े पर आ गयी—"नाथ, ग्रन्थ समाप्त हो गया?" प्रसन्नता और आनन्द की बाढ़ में वह बही जा रही थी।

पति ने उसका हाथ थाम बिस्तर पर बिठा दिया, अपने हाथ की पोटली उसकी गोद में धीरे से रख कर बोल उठा—"हाँ प्रिये! ग्रन्थ समाप्त कर मैंने उसे मानवता के चरणों में भी चढ़ा दिया!"

"क्या है यह" पूछने का अवसर ही कहाँ दिया उस नवजात ने, अपनी किलकारियों से अपनी नयी माँ को काठ-सा बना दिया उसने। फटी-फटी आँखों से स्तब्ध देखती रह गयी वह।

पत्नी का सिर सहलाते हुए पति ने उसकी आँखों में ठिठके प्रश्न का उत्तर दिया—"प्रिये, यह है मानवता।"

गोद में बच्चे के हाथ-पैरों की लगातार हलचल से जब सरला कुछ होश में आयी तो उसने पहला प्रश्न किया—"स्वामी? कहाँ से लाये इसे और कहाँ है आपका शोधग्रन्थ?"

सरल और प्रसन्न भाव से दार्शनिक ने कहा—"कुटिया के बाहर पड़े इस लघु निष्प्राण देह में जीवन-सञ्चार करने के लिए मेरे शोधग्रन्थ ने समिधा का काम किया है प्रिये! अपना शोधकार्य मैंने मानवता को समर्पित

कर दिया। आज मेरी साधना सफल हुई!"

पत्नी ने मुँह उठा कर पति की आँखों में झाँका। अपूर्व आभा से दमक रहे थे वे नेत्र। उसने अनुभव किया कि अपने स्वामी को वह जितना बड़ा समझती थी उससे कहीं ज़्यादा महान् निकले वे। आज तक वह उन्हें दार्शनिक मानती थी, आज उसने उनके अन्दर साक्षात् परमात्मा के दर्शन पाये।

भक्तिपूर्वक झुक कर उसने अपने देवता की चरण-रज मस्तक से लगा ली।

'पुरोधा', मार्च २००२ से —वन्दना

हमारे पास और कोई चारा ही नहीं है :
प्रेम के दरवाज़े में प्रवेश करने से पहले,
हमें चौखट पर,
अपना अहंकार उतार कर रखना ही होगा।

अग्निशिखा
श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.
संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी
प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पॉण्डिचेरी ६०५००१
मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पॉण्डिचेरी ६०५००१, भारत
सम्पादक : वन्दना
स्वामी : श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी-६०५००१
दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८
Email: info@aurosociety.org
Website: www. aurosociety.org

क्या मेरा यह सोचना गलत है कि साधारण जीवन जीने वालों के साथ साधकों का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये; ऐसे लोगों के साथ जिनका आध्यात्मिक जीवन के प्रति कोई झुकाव नहीं है?

स्पष्ट रूप से ऐसा करना कहीं अधिक अच्छा होगा।

श्रीमाँ

Our Gratitude and consecration to the Mother and Sri Aurobindo

Sri Aurobindo Society, Nairobi Centre, Kenya

Renaissance

AN ONLINE JOURNAL OF SRI AUROBINDO SOCIETY

renaissance.aurosociety.org

PRESENTED BY BHĀRATSHAKTI

India must be reborn, because her rebirth is demanded by the future of the world.

Featuring curated pearls of wisdom from the oceanic writings of **Sri Aurobindo and the Mother**, as well as fresh perspectives and insights on India and her creative genius manifesting in various domains – spiritual, artistic, literary, philosophic, aesthetic.

Sri Aurobindo Society

BHĀRATSHAKTI

INDIA – FROM PAST DAWNS TO FUTURE NOONS

10 ISSUES PER YEAR

Released on the 21st of every month (special issue on August 15)

SUBSCRIBE FOR FREE

Date of Publication: 1st October 2024
Rs. 30 (Monthly)

अग्निशिखा एवम् पुरोधा, वर्ष २, अंक १५, PONHIN/2023/88119
प्रकाशक स्थल: सोसायटी हाउस, १९ सैं मार्तं स्ट्रीट, पांडिचेरी ६०५००१

A Happy Announcement! Our Upcoming Film

SRI AUROBINDO

A CALL TO NEW INDIA

A SHORT ANIMATION FILM BASED ON THE 5 DREAMS OF SRI AUROBINDO
BY SRI AUROBINDO SOCIETY

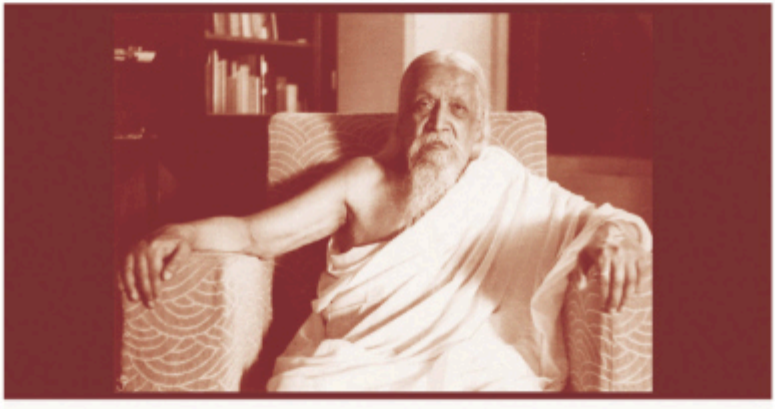

The final dream was a step in evolution which would raise man to a higher and larger consciousness ....

~ Sri Aurobindo

his message on the eve of India's independence, in the form of his 5 Dreams

Participate in creating a film that will inspire and be a shining light for generations to come!

Be the first among our wellwishers and **DONATE at www.anewdawn.in**